विवेक का आदर तथा बल का सदुपयोग विकास की भूमि है

जीवन-दर्शन

उद्देश्य

मानव-जाति के सर्वतोमुखी विकास की तथा कर्तव्य-परायणता एवं साधन-निष्ठ जीवन की प्रेरणा देना।
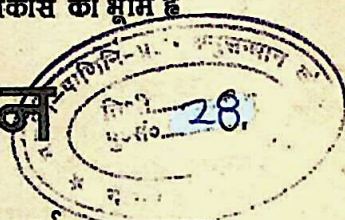
वर्ष ६] वृन्दावन, अगस्त १९७१ [अङ्क ८

बद्ध और मुक्त का भेद

सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ, यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे,
एकस्तयोः खादति पिप्पलान्नमन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयान्।
आत्मानमन्यं च स वेद विद्वानपिप्पलादो न तु पिप्पलादः,
योऽविद्यया युक् स तु नित्य बद्धो, विद्यामयो यः स तु नित्यमुक्तः।

देहस्थोऽपि न देहस्थो, विद्वान् स्वप्नाद् यथोत्थितः;
अदेहोऽपि देहस्थः, कुमतिः स्वप्नदृग्यथा।

—श्रीमद्भागवत ११.११.६-८

अर्थ—ये दोनों (बद्ध और मुक्त) दो पक्षियों के समान हैं जो (स्वरूपतः) एक से हैं, आपस में सखा हैं और अपनी स्वतन्त्र इच्छा से ही इन्होंने (शरीर रूपी) वृक्ष में घोंसला बनाया है। उनमें का एक पीपल-वृक्ष के फल खाता है, दूसरा उन्हें न खाने पर भी ऐश्वर्य में श्रेष्ठ है।

वह फल न खाने वाला ज्ञानी अपने को और दूसरे को भी जानता है, पर फल खाने वाला नहीं जानता। जो अविद्या से युक्त है, वह तो नित्य बद्ध है, जो विद्यामय है, वह नित्य मुक्त है।

ज्ञानी स्वप्न से जगे मनुष्य की भाँति देह में रहते हुए भी देह में नहीं रहता, (उससे बद्ध नहीं होता) पर अज्ञानी शरीर में आबद्ध न रहने पर भी शरीर से बँधा ही रहता है।

व्याख्या—इन श्लोकों में भगवान श्रीकृष्ण ने उद्धव को अपना अन्तिम उपदेश देते हुए एक रूपक के द्वारा उन्हें बद्ध और मुक्त का भेद बताया है। रूपक में दो पक्षियों की कल्पना है। वे एक ही जाति के हैं, अतः वे एक दूसरे के बिलकुल समान हैं। वे आपस में मित्र हैं, अर्थात् उनमें आत्मीय सम्बन्ध है। अपनी स्वतंत्र इच्छा से ही इन्होंने एक पीपल के वृक्ष पर निवास किया है। दोनों में स्वरूपतः कोई भेद नहीं है। यदि उनमें कोई भेद है तो बस इतना कि उनमें का एक पीपल के फल खाता है, दूसरा नहीं खाता। जो पक्षी फल खाता है उसका फलों के लिए उस वृक्ष से राग है; इसलिए वह वृक्ष से बँध गया है, छोड नहीं सकता। वृक्ष को छोड़कर उड़ जाने में समर्थ और स्वतन्त्र होने पर भी, फलों का लालच छोड़ न पाने के कारण वह वहाँ से उड़ नहीं पाता। यही उसके बन्धन का स्वरूप है। दूसरा पक्षी जो फल नहीं खाता, मुक्त है। उसमें फलों का कोई लालच नहीं, अतः वह जब चाहे तभी उस वृक्ष को छोड़कर उड़ सकता है। वृक्ष पर भी वह स्वतन्त्र है, पर एक में फलों का लालच उसे वृक्ष छोड़कर उड़ जाने नहीं देता, अतः वह वृक्ष से बंधा है दूसरे फलों का लालच है ही नहीं, अतः वह उड़ जाने में स्वतन्त्र है।

इसी रूपक की सहायता से श्वेताश्वतर और मुण्डकोपनिषद् के दो मंत्रों में आत्मा और जीव का भेद बताया है। यहाँ उद्धृत पहले दो श्लोक उन मंत्रों का अनुवाद मात्र हैं। इनका तात्पर्य भी वही है जो उन श्रुतियों का है। जीव को ही यहाँ बद्ध कहा गया है। उसी को कहीं-कहीं जीवात्मा भी कहा गया है। यहाँ मुक्त से आत्मा ही इंगित है।

प्रस्तुत विषय का सम्बन्ध परम सत्य से है, जो वास्तव में वर्णनातीत है, शब्दों की सीमा में बंध नहीं सकता। फिर भी जिन्होंने उसकी प्रत्यक्षानुभूति की है, वे अज्ञान में पड़े मानवों के प्रति करुणा से प्रेरित हो, शब्दों के द्वारा उस परम सत्य की ओर केवल संकेत करते हैं। परम सत्य के लिये प्रयुक्त उनके शब्द सत्यके स्वरूप का चित्रण नहीं करते, वे उस अनिर्वचनीय के अस्तित्व को सूचित करने वाले संकेत-चिह्न के समान हैं। उस सत्य की ओर संकेत करके उसके प्रत्यक्ष द्रष्टा हमें यह बताना चाहते हैं कि सारा जीवन उसी में है, और उसी से अभिन्न होकर हम वास्तविक जीवन को प्राप्त कर सकते हैं। अतः साधक को उन कृपालुओं का आशय समझकर शब्द-

जाल और कुतर्क में नहीं फँसना चाहिए। जो प्रेरणा वे देते हैं, जिस साधन को वे इंगित करते हैं, उसे ग्रहण करने से ही हमारा कल्याण हो सकता है।

रूपक के दोनों पक्षियों की भाँति मुक्त और बद्ध में भी स्वरूपतः कोई भेद नहीं है। जो एक है, वही दूसरा। दोनों एक जाति के हैं, दोनों में आत्मीय सम्बन्ध हैं। अपनी स्वतन्त्र इच्छा से ही वे दोनों संसार में हैं, पर जो मुक्त है उसपर संसार का कोई वश, शासन या प्रभाव नहीं है। संसार उसकी रचना है, लीला है, माया है या क्या है, वह है भी या नहीं, यह तो तभी स्पष्ट होगा, जब परम सत्य से अभिन्नता प्राप्त होगी। अभी केवल इतना समझ लेना है कि संसार का उस मुक्त पर कोई प्रभाव नहीं, संसारसे वह किसी प्रकार भी बँधा नहीं है। संसार के विषय, उसकी परिस्थितियाँ, जो रूपक के वृक्ष के फलों के समान हैं, मुक्त को आकर्षित नहीं कर पातीं। उसके लिए उनमें न कोई रमणीयता है, न रस,अतः उनकी ओर वह देखता ही नहीं और इसीलिए वह उनसे बँधता भी नहीं, सदा अपने ऐश्वर्य में स्थित रहता है। जो बद्ध है, वह संसार-वृक्ष के फलों की आसक्ति के कारण ही बँधा है। विषयों की कामना वह छोड़ पाता नहीं; उनकी कामना ही उसे संसार में भरमाती रहती है। यदि एक कामना पूरी हो जाती है, तो दूसरी उत्पन्न हो जाती है; कामनाओं का ताँता कभी टूटता नहीं। उनकी पूर्ति के प्रयास में तथा उनकी पूर्ति-अपूर्ति के फल-स्वरूप सुख-दुख के भोग में वह सदा डूवा रहता है। यही उसका वन्धन है। विषयों की आसक्ति के कारण न वह कामनाओं को छोड़ ही पाता है; न उसका वन्धन ही कटता है। यदि विषयासक्ति मिटे, कामना का नाश हो, तो वह मुक्त हो।

विषयासक्ति का कारण है अज्ञान। मुक्त ज्ञान स्वरूप है। वह अपने ज्ञानमय स्वरूप में ही सदा स्थित रहता है। वद्ध की दृष्टि में संसार की जो रमणीयता या रस-मयता होती है, उसका ज्ञान स्वरूप की दृष्टि में कोई अस्तित्व ही नहीं होता। इसलिए संसार से उसके बँधने का कोई प्रश्न ही नहीं। इसके विपरीत वद्ध अनभिज्ञ होता है अपने निज स्वरूप से भी और संसार की वास्तविकता से भी। शरीर तथा संसार के साथ तादात्म्य होने के कारण, इन्द्रियादि करणों द्वारा प्रतीत होने वाले संसार को वह सत्य समझता है, उसके विषय-भोगों में उसे सुख मालूम होता है; अतः उनके प्रति उसका राग हो जाता है; इसलिए उनकी कामना की पूर्त्ति

का प्रयास उसे संसार में ही भटकाता रहता है। यही उसका बंधन है। इस प्रकार ज्ञानस्वरूपता मुक्तत्व का मूलाधार है और अज्ञान बंधन का कारण है।

ऊपर उद्धृत तीसरे श्लोक में एक दूसरे उदाहरण के द्वारा ज्ञानी और अज्ञानी का भेद स्पष्ट किया गया है। ज्ञानी स्वप्न से जगे हुए व्यक्ति के समान होता है, अज्ञानी स्वप्न-द्रष्टा के समान। स्वप्न-द्रष्टा स्वप्न काल में स्वप्न-दृष्य को सत्य समझता रहता है; उस काल में स्वप्न-दृश्य के मिथ्यात्व को वह किसी प्रकार भी नहीं जान पाता। स्वप्न की घटनाएं उसे सुख-दुख भी देती हैं तथा वह अपने को कर्त्ता और भोक्ता मानता रहता है। भौतिक दृष्टि से जिनका कोई अस्तित्व है ही नहीं, उनकी सत्यता का भ्रम, स्वप्न के रहते हुए कोई नहीं मिटा सकता। इस प्रकार स्वप्न-द्रष्टा अपने स्वप्न से बंधा रहता है। ऐसे ही अज्ञानी संसार से बँधा रहता है। वह अपने अज्ञान के कारण संसार को सत्य और सुखरूप मानकर संसार के विषय-भोगों की कामना करता रहता है और उनकी पूर्ति के प्रयास में लगा भटकता रहता है।

ज्ञानी स्वप्न से जगे हुए व्यक्ति के समान होता है। जैसे जग जाने पर स्वप्न की असत्यता को समझने के लिये कोई प्रयास नहीं करना पड़ता, वह स्वतः स्पष्ट हो जाती है; वैसे ही ज्ञानी की दृष्टि में संसार का कोई अस्तित्व नहीं रहता, इसलिए अज्ञानी की दृष्टि वाले संसार के सुखद और दुखद दृश्यों का उसपर कोई प्रभाव नहीं पड़ पाता; अतः जगत् से वह बँधता भी नहीं। वह सदा अपने ज्ञानस्वरूप में वास करता है और नित्य मुक्त रहता है।

यह सब कहने का प्रयोजन यह है कि जो मुक्त होना चाहता है वह जगत् के भोगों की कामना का त्याग करे, क्योंकि भोग-कामना ही बद्ध के बंधन का कारण है। कामना के त्याग के लिए ममता और अहंता का त्याग कर शरीर और जगत् से अपना तादात्म्य तोड़ना, उससे असंग होना ही पड़ता है। पूर्ण असंगता सिद्ध होने पर ही साधक अपने ज्ञानमय स्वरूप मे स्थित होता है, यही मुक्ति है।

मिटा दो वा मिला लो

: श्री साधक मनोरञ्जन जी

मेरे मैं को मिटा दो, वा
मिला लो नाथ, अपने में।
न आनँद है विचरने में,
न तपने में, न जपने में ॥

तेरे सङ्कल्प में सङ्कल्प
मेरा लीन हो जाए।
तेरे अस्तित्त्व में ही प्रभु,
मेरा अस्तित्त्व ख़ो जाए ॥

रहूँ तो प्रीति बन, होवे
हमारा प्रेममय जीवन।
प्रिया-प्रियतमकी लीला हो,
हृदय मेरा है वृन्दावन ॥

सन्त वाणी

राग और द्वेष की निवृत्ति और चित्त की शुद्धि

[गताङ्क से आगे]

अब आपको यह निर्णय करना है कि आपको सुख-दुःख का भोग करना अभीष्ट है या सुख-दुःख का नाश करना अभीष्ट है। इतनी बात और भी है कि सुख के भोग के लिए आपको दुःख सहना ही पड़ेगा। उससे बच नहीं सकते, क्योंकि सुख का लोभी दुःख से बच जाय, यह किसी प्रकार भी सम्भव नहीं। और जो सुख का भोगी नहीं है उसे दुःख कभी हो नहीं सकता, कितना ही भयंकर दुःख उसके सामने क्यों न आ जाय। परन्तु हमारा स्वभाव तो आज ऐसा बन गया है कि बिना सुख की आशा के न हम किसी से बात करना ही पसन्द करते हैं, न किसी के साथ व्यवहार करना पसन्द करते हैं और न कुछ काम करना पसन्द करते हैं। आप यदि यह सोचते रहें कि हमारे जीवन में सुख का भाग तो ज्यों का त्यों सुरक्षित बना रहे और दुख का भाग निकल जाय तो, मेरे भाई, यह आपके बस की बात नहीं है, न मेरे बस की बात है और न किसी व्यक्ति-विशेष के बस की बात है। हाँ, यह बात आपके बस की अवश्य है कि आप सुख को प्रणाम कर लीजिये दुःख अपने आप निकल जायगा। और आपको सुख की परिस्थिति में केवल सुख देने की बात को देखना है। आप सोचने लगिये कि आप अपने साथी को कितना सुख दे सकते हैं, कितना प्यार दे सकते हैं और कितनी वस्तु दे सकते हैं। भाई, सुख का स्वरूप क्या है? सुख वस्तु के द्वारा मिलता है, आदर के कारण सुख मिलता है। तो, आपके पास जो वस्तु मौजूद है उसे कितने अंशों में आप दूसरों को दे सकते हैं, आप कितने हिस्से में दूसरों को आदर दे सकते हैं, कितने अंशों में दूसरों को प्यार दे सकते हैं? इस बात को सामने रखिये तो यह पता चल जायगा कि सुख में क्या है? तो जब आपके द्वारा दूसरों को सुख

मिलेगा, तब ऐसा करने से सुख की प्रतिक्रिया सुख नहीं होगी। कारण, नियम यह है कि सुख देने से आपको आनन्द मिलता है और सुख लेने से दुख मिलता है, यानी सुख एक ऐसी विचित्र चीज है कि अगर किसी को दो तो उसके वदले में आनन्द ले लो और अगर किसी से उसे ले लो तो उसके वदले में दुख खरीद लो। यानी सुख देकर जीवन में दुख कभी नहीं रहता। इसलिए भ.ई, सुख का लेना दुःख को खरीदना है और सुख को देना, आनन्द को खरीदना है। अव आप स्वयं सोचिये कि सुख देकर आप आनन्द लेना चाहते हैं या सुख लेकर दुःख लेना चाहते हैं? अगर सुख लेकर दुःख भोगना चाहते हैं तो यह भी एक नियम है कि सुख लेते रहिये और दु.ख भोगते रहिये। अगर आप सुख देकर आनन्द लेना चाहते हैं तो सुख देते रहिये, आनन्द लेते रहिये। तो कहने का तात्पर्य यह कि यह जो सुख का महत्व जीवन में है, वह देने में है, लेने में नहीं। और दुःख का जो महत्व जीवन में है, वह देने में नहीं, लेने में है। आप जितना दूसरे का दुःख ले लेंगे उतनी ही आपकी उन्नति हो जायगी। तो दुःख का महत्व लेने में तथा सुख का महत्व देने में है। दुःख लेने से भी आनन्द मिलता है और सुख देने से भी आनन्द मिलता है। इन दोनों में से कोई न कोई चीज हमारे आपके पास रहती है। ऐसा कोई भी जीवन का क्षण नहीं होता जिस समय आप न सुखी हैं और न दुखी हैं। इन दो में से किसी एक में आप होते ही हैं। तो जब आपके जीवन में सुख मालूम हो, तो सोचिये, यह किसको देना है। और जब जीवन में दुःख मालूम हो तो जल्दी-जल्दी उसका और आह्वान कीजिये कि हे दुःख! तुम इतना ही आकर क्यों रह गये? जितना आ सको आओ। इस प्रकार दु.ख-काल में आप दुःख को जितना बुलायेंगे उतना ही वह दूर भागता जायगा। थोड़ी देर के लिए जैसे कल्पना करो कि लड़के के वियोग से चित्त दुखी हो गया तो उस दुःख को स्थाई क्यों नहीं करते? जितने संयोग आपको मालूम होते हैं सभी का तो वियोग होना है। जब सभी का वियोग होना है, और वह अनिवार्य है तो उस दुख को बढ़ा लीजिये और इतना बढ़ा लीजिये कि सुख का गन्ध भी न रह जाय। जब सुख की गन्ध भी न रह जायगी तो जहाँ केवल दुःख रहता है न, वहा हमारे जो एक हैं, (हम तो उनका नाम कभी रखते नहीं) उनकी खुराक ही दुःख है। इसलिए उनका नाम रखा दुखहारी। जिस समय आप पूरे दुखी हो जायेंगे, आप सच मानिये, उसके आहार करने वाले जो हैं वे आ

जायेंगे, विना बुलाये आ जायेंगे और दुःख को खा जायेंगे, आनन्द दे जायेंगे। इसलिए भाई मेरे, दुख से डरो मत, और सुख का प्रलोभन मत रखो, क्योंकि सुख जो आया है उसका यदि स्वयं भोग करोगे तो वह दुःख में बदल जायगा और उसे दूसरे को दे दोगे तो वह आनन्द के रूप में मिल जायगा। तो, या तो भाई, सुख देकर आनन्द ले लो, या दुःखी होकर दुःखहारी को निमन्त्रण दे दो। वह आ जायगा। आप कहेंगे कि हम तो मानते ही नहीं। आप उसको नहीं मानते, तब भी वह आ जायगा। कैसे आ जायगा? दो ढंग हैं उसके आने के—एक ढंग तो उसका यह है कि आप जिसको मानते हैं उस रूप में आ जायगा। दुःख के अन्त में अगर आप शान्ति को मानते हैं तो शान्ति के रूप में आ जायगा, अगर आप अमरत्व के रूप में मानते हैं तो अमरत्व के रूप में आ जायगा। अगर आप आनन्द को मानते हैं तो आनन्द के रूप में आ जायगा, अगर आप अगाध अनन्त-रस को मानते हैं तो अगाध अनन्त-रस के रूप में आ जायगा, और अगर आप कुछ नहीं मानते हैं तो सर्व-रूप में आ जायगा, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। जिस समय हमारे जीवन में केवल दुःख होगा, उसी समय दुःखहारी अवश्य आ जायगा और जब दुःखहारी आ जायगा तो जिसका जो भोजन है उसने खा लिया तो आप जानते हैं कि भोजन का स्वभाव क्या है? जो उसे खाता है वह उसके तद्रूप हो जाता है, उससे अभिन्न हो जाता है। तो उस दुःख का भी कल्याण हो जायगा, क्योंकि वह दुख उस दुखहारी से अभिन्न होकर कृत-कृत्य हो जायगा। इसलिए भाई, दुख का भी उपकार होगा, आपका भी उपकार होगा, समाज का भी उपकार होगा, सभी का हित है इसमें। अतः आपको जितना अधिक से अधिक, जितनी जल्दी से जल्दी मिले, दुख को खरीद लीजिये, परिणाम में आपको आनन्द मिलेगा। और सुखों को दे डालिये, आपको आनन्द मिलेगा, सुख बेच दीजिये विना मूल्य के, आनन्द मिलेगा। दुख खरीद लीजिये विना ममता के, आनन्द मिलेगा और इस तरह आपका, हमारा चित्त शुद्ध हो जायगा। और चित्त शुद्ध होने से जो वास्तविक जीवन है उसीमें उनकी प्राप्ति हो जायगी, ऐसा मेरा विश्ववास है।

(सम्पूर्ण)

संत-वाणी—

* गुरु-तत्त्व *

काम की निवृत्ति, जिज्ञासा की पूर्ति एवं प्रेम की प्राप्ति की माँग मानव की अपनी माँग है। इस माँग की पूर्ति जिस सत्य को अपनाने से होती है, वही अनादि गुरु-तत्त्व है। अतएव मानव की सर्व प्रथम एकता गुरु-तत्त्व से होनी चाहिये। उससे अभिन्न हुए बिना साधक को साध्य की प्राप्ति नहीं होती। इस दृष्टि से गुरु-तत्त्व से एकत्व मानव-मात्र के लिये अनिवार्य है। बीज रूप से गुरु-तत्त्व साध्य के समान सदैव विद्यमान है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब साधक जीवन के सत्य को स्वीकार कर उससे अभिन्न हो जाता है। अब विचार यह करना है कि जीवन का सत्य क्या है ? उत्पत्ति का ज्ञान उत्पत्ति को नहीं होता अपितु उसी को होता है जो स्वयं अनुत्पन्न है। किसी भी उत्पत्ति के साथ मानव की एकता नहीं होती किन्तु वह प्रमाद से एकता मान लेता है। उस प्रमाद की निवृत्ति जिस बोध से होती है, वह गुरु-तत्त्व है। जो सदैव अपना है, अपने में है, उसकी अभिव्यक्ति जिस आस्था से होती है, वह गुरु-तत्त्व है। बोध का आदर करना तथा आस्था में विकल्प न करना वास्तविक दीक्षा है। दीक्षित होने पर शिष्य स्वतः गुरु-तत्त्व से अभिन्न हो जाता है। गुरु-तत्त्व साध्य-तत्त्व का स्वभाव और मानव का निज-स्वरूप है। अपने में सदैव अपने प्रेमास्पद विद्यमान हैं, यह प्रेमियों का निज अनुभव है। प्रेम और प्रेमास्पद के नित्य विहार में ही जीवन है। जीवन की माँग मानव की अपनी माँग है। जीवन जड़ता, पराधीनता और नीरसता से रहित अविनाशी है। गुरु-तत्त्व और साध्य-तत्त्व का नित्य-मिलन, नित्य-विरह ही अनन्त की अनुपम लीला है। लीला का प्राकट्य तथा उसमें प्रवेश तभी सम्भव है जब मानव देह-भाव का त्याग कर अपने ही में गुरु-तत्त्व को पाकर उससे अभिन्न हो जाय, जो एक-मात्र सत्सङ्ग से ही साध्य है। सत्सङ्ग ही एकमात्र गुरु-तत्त्व की प्राप्ति का अचूक उपाय है। अपने में अपने प्रेमास्पद हैं, इसमें लेश-मात्र भी विकल्प नहीं होना चाहिये। उत्पन्न हुई सृष्टि में मेरा कुछ नहीं है, यह अनुभव मानव को दृश्य से मुक्त करता है और विकल्प-रहित आस्था से मानव अपने में अपने प्रेमास्पद को पाता है। यह सद्गुरु-वाणी है और वेद-वाणी तथा निज अनुभव से सिद्ध है। शरीर में गुरु-बुद्धि और गुरु में शरीर-बुद्धि, भारी भूल है जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। शरीर की जातीय एकता तथा उसका अविभाज्य सम्बन्ध सृष्टि के साथ है और मानव की जातीय एकता तथा वास्तविक सम्बन्ध गुरु-तत्त्व के साथ है। गुरु-तत्त्व सर्वदा साध्य से अभिन्न है। अतः गुरु-तत्त्व की प्राप्ति में ही साध्य की प्राप्ति निहित है। ॐ आनन्द !

"जीवन तुम्हारा"

(श्री अवधकिशोरजी मिश्र)

●

[१]

जीवन का भार
प्रिय, मुझसे
चलेगा नहीं ।
लगता है ऐसा
बिना समझे-
बिना बूझे
इन कंधों पर
तूने दे डाला है
भार इस जीवन का
ढोने में जिसको
समर्थ मैं अपने को
पाता नहीं ।
छोड़ भी सकता नहीं,
क्योंकि मोह इससे
हो गया है कुछ ।

[२]

"एकोऽहं बहुस्याम" तो
तुम्हारे लिये
कौतुक है,
मेरे लिये बोझ है ।
कैसे यह मानूं
मैं तुम्हारा
प्रतिरूप हूँ ?
सुनता हूँ-
तुम हो निर्बंध,
मैं बंधन में ।
सर्वशक्तिमान तुम,
अकिञ्चन मैं ।
तुम हो
अथाह जल राशि,
मैं बुंद एक ।
भासमान रवि तुम,
मैं किरण एक ।

[३]

बूंद जलराशि की है
उसके लिए ही है ।
जलराशि है न बूंदों की ।
किरणें हैं रवि की,
रवि के लिये हैं ।
रवि है किरणों का नहीं ।
लेकिन संबंध यह
लाला ! बड़ों का है ।
मैं हूँ एक अदना,
नाचीज, अकिञ्चन ।
यह हस्ती कहाँ मेरी
कह डालूँ-
" मैं तेरा हूँ ।"
'इसमें कुछ मेरी
परवशता है ।

अगर तुम निकले
बे मेहरवाँ
निष्करुण,
निष्ठुर,
और कुछ नहीं तो
बेवफा ही,
तो तुम ठुकरा दोगे
मेरे प्रेम निवेदन को।
कह दोगे
"तेरे जैसे ही क्या
मेरे हुआ करते हैं ?"
तब क्या करूंगा मैं ?
विश्व के पैरों से
कंदुकसा
ठुकराया हुआ हूँ मैं।
तुमसे भी खाकर ठोकरें
मैं कहाँ जाउँगा !

[४]

सुना है
तुमको अपनाने में,
लेकिन स्वतन्त्र हूँ मैं।
इश्क में तुम्हारे
जान देने को
पूरा आजाद हूँ मैं।
जरुरत नहीं
इसमें कुछ
परके सहारे की,
वदले में कुछ भी नहीं
चाहिए गर तुमसे-
प्रतिकार नहीं कुछ भी
प्रतिदान नहीं कुछ भी
प्रेम के वदले
प्रेम दान नहीं तुमसे।
तो फिर बताओ रे
मरे असमर्थ !
तुम मेरा क्या कर लोगे ?
तेरे अपनाने से,
तेरे ठुकराने से
क्या बनता—
क्या बिगड़ता है ?

[५]

मेरे तुम ही हो।
मैं किसका हूँ
पता नहीं।
तेरे लिये हूँ मैं,
तुम किसके लिये
जानों तुम।
मैं तो हूँ शलभ एक,
दीप तुम।
प्राणों की आहुति भर
मेरा अधिकार है।
मैं हूँ चकोर,
तुम चन्द्र हो।
मेरे तुम हो,
मैं हूँ तेरे लिये।

[६]

दीप से अपने
अनगिनत दीपिकाओं में
नेह तुमने ही डाला है।
चौमुख दिअरा से निज बाती
तूने ही लेसी है।
आग विरह की
तूने ही भड़काई है,
जिसमें अपने तड़पते,
अपनों को तड़पाते हो।
सुना तो यहाँ तक है कि

हम प्रेम का
दम ही भरते हैं।
सारे प्रेमियों का प्रेम
एक साथ मिलकर भी
हो सकता नहीं तुल्य
कभी तेरे प्रेम-पुंज के

[७]

प्रेम की आग तो
तूने सुलगायी है,
किंतु उसमें
वासना का धूम
कहो किसने
उपजाया है ?
मेरे तो हाथ
यह धूम ही
लगा है, प्रिय !
पंथ प्रेम का तो
दीखता है
बहुत सीधा सा—
सरल सा,
धूम यह बीच में
लेकिन नजर आता क्यों ?

× × ×

फूँक दो एक बार
धूम उमड जाये,
आग धधक जाये,
जिसमें जल जाये
सब झिझक,
मिट जाये
सब हिचक
उठ जाये आवरण
अहंता का-ममता का,
अपने-पराये का।
मैं चल पड़ूँ
दीवाने सा
तेरी गली में
होकर के
बेपरवा
बेखुदी की
जिस मस्ती में
पता भी चले नहीं,
जीवन तुम्हारा
जो भार बन बैठा है
देकर के तुम्हें कैसे
हो गया मैं हल्का
निश्चिन्त,
निर्भीक,
अकिञ्चन ?

मनुष्य की परिभाषा

श्री रामसुमेर जी मिश्र

मनुष्य के सामने जानने की सबसे वड़ी चीज मनुष्य स्वयं ही है, और सौभाग्य से इससे अधिक निकट और स्पष्ट स्वरूप उसके पास और कोई है भी नहीं। इतने पर भी मनुष्य की कोई परिभाषा वैज्ञानिकों की पकड़ में सत्य नहीं हुई। कुछ उसे विचार वाला पशु कहते हैं, कुछ उसे समाज वाला पशु कहते हैं; भारत के विद्वानों की दृष्टि में वह धर्म वाला पशु ही खरा उतरा है।

श्रुति ने उसे माता वाला, पिता वाला और आचार्य वाला प्राणी कहा है। पशु भी नर और मादा के संसर्ग से पैदा होता है किन्तु वह माता वाला नहीं है, वह पिता वाला नहीं हैं, क्योंकि वह जाति-धर्म वाला है। पशु योनी में पैदा होने वाला जाति-धम वाला होता है। जाति-धर्म बीज में मूल प्रवृति के रूप में पिरोया होता है। वया का वच्चा घोंसला बनाना सीखता नहीं है, यह कला जाति-धर्म में समाई होती है। इसी प्रकार विल्ली के गुण उसे सीखने नहीं पड़ते, पैदा होते ही स्वभाव से, मूल-प्रवृत्ति के रूप में, जाति के गुण मिल जाते हैं। पशु के बच्चे को पैदा होने के बाद यदि आहार मिल जाय और माँ का संसर्ग न मिले तो भी वह पूर्ण जाति के गुण वाला होगा, किन्तु यदि मनुष्य के बालक को जन्म से मानव-समाज व संस्कृति से पृथक् कर दिया जाय तो वह बालक मनुष्य नहीं बन सकता। मनुष्य-जाति का कोई धर्म नहीं है जो उसे वीज में मिला हो और आयु के साथ प्रकट होता हो। आहार, निद्रा, भय और मैथुन धर्म नहीं हैं; ये प्राणी की प्रकृति हैं; ये मूल प्रवृतियां नहीं हैं, ये जैवीय (बायोलॉजिकल) माँगें (अर्जेज) हैं। हाल ही में रामू नामक बालक जो ८ वर्ष का था दिल्ली में भेड़ियों के वीच से पकड़ कर लाया गया था, इसे, कोई मादा भेड़िया पैदा होने के बाद उठा ले गया था, यह भेड़िये की बोली वोलता, मुर्दे का मांस नोच कर खाता और वैसा ही व्यवहार करता था। इसमें मनुष्य का कोई गुण नहीं था। इसको मनुष्य बनाने का प्रयत्न किया गया किन्तु कुछ ही दिनों में

मर गया । यह वात पशुओं में नहीं मिलेगी । कहावत है कि कौवे के घोंसले में पला हुआ कोयल का बच्चा कोयल ही होगा, कौवा नहीं ।

शास्त्र कहते हैं कि पूर्व जन्म के कर्मों के आधार पर सात्विक, राजसिक और तामसिक प्रवृतियां बनती हैं। मनुष्य योनि में जन्म लेने पर ये प्रवृतियां उसकी रुचि को खींचती हैं। इस प्रवृनि के अतिरिक्त कोई जाति-धर्म उसमें नहीं होता। माता के गर्भ में आने ही पर संस्कारों का प्रभाव होने लगता है। संस्कार के दो मार्ग हैं पहला सलाह (सजेशन) और दूसरा इन्द्रिय स्पंदन(सेन्सेशन)। पशु संस्कार वाला प्राणी नहीं है।

इन्द्रिय स्पंदन (सेन्सेशन) के द्वारा संस्कार पड़ने के लिए एक अनिवार्य दशा है कि उसके पहले बुद्धि-दृष्टि (Concept) हो। विना बुद्धि-दृष्टि के हुए इन्द्रिय-दृष्टि काम नहीं कर पाती। इसको मेटाफिजिक्स की परिभाषा में "ए प्रायर्स कंसेप्ट के विना परसेप्ट सम्भव नहीं है" कहते हैं। मनुष्य की इन्द्रिय-दृष्टि काम करें, इसके लिए अनिवार्य है कि उसके पास वुद्धि-दृष्टि हो। बुद्धि-दृष्टि या तो अनुभूति (एक्सपीरिएंस से आती है या सलाह (सजेशन) से, इस सलाह को ही विवेक-दृष्टि भी कह सकते हैं। जव जिज्ञासु खोज करते-करते थक जाता है तो उसे अज्ञात दिशा से सलाह प्राप्त हो जाती है और वह ज्ञान पा जाता है।

अव यदि हम विचार करें कि इस प्रकार का आश्रित और असमर्थ मानव आदि-सृष्टि में कैसे आया तो स्वीकार करना होगा कि उसके उत्पन्न होने की पूर्वाणी (ए प्रायरी) दशा जव तक पूरी नहीं हुई होगी, तब तक मनुष्य की उत्पत्ति नहीं हुई होगी। अर्थात् समाज और संस्कृति जो माता-पिता और आचार्य के रूप में अवाधित दशाएँ हैं, मनुष्य के उत्पन्न होने के पहले उपस्थित थीं। आदि-सृष्टि में ईश्वर ही माता बना और उसने गर्भ धारण किया, आदि-सृष्टिमें ईश्वर ही पिता बना और उसने पालन-पोषण किया और आदि सृष्टि में ईश्वर ही गुरु बना और उसने सलाह(मंत्र) के रूप में उसको विवेक-दृष्टि से भाषा और वुद्धि-दृष्टि (कंसेप्ट) दिए।

मनुष्य को स्वभाव और धर्म वीज रूप में उसके माता-पिता और गुरुजनों से मिलता है। मनुष्य इन्हीं तीनों के ऋण रूप से निर्मित होता है। मनुष्य का निर्माण होना है, मनुष्य पैदा नहीं होता। मनुष्य का निर्माण ठीक हो, इसके लिए उसको समाज और संस्कृति पर सदा दृष्टि रखनी होगी। मनुष्य ऋणी होकर जीवन

लेता है। समाज का यह कर्तव्य है कि वह मनुष्य को स्वत्व होते समय संस्कार के रूप में यह सत्य दे दे कि वह ऋणी है, स्वच्छन्द नहीं। इस संस्कार के अभाव में निश्चय ही मनुष्य के तुरन्त सन्मुख इसकी जैवीय माँगें उसकी समस्त सामर्थ्य को खींच ले जाएगीं और वह मात्र आहार, निद्रा, भय और मैथुन के चक्र में अतृप्त, अशांत और दुःखी घूमेगा। यह सत्य है कि ऋण लेने के वाद उससे मुक्त होने की भावना न रखने पर जीवन पाप के बोझ से दवा प्रतीत होता है। अतः अनुभव करना और ऋण उतारने की भावना रखना मात्र, जीवन का पथ प्रशस्त कर देता है। यह ऋण उतरता है मात्र सेवा और त्याग से, जिसके उपलक्ष में मिलता है प्रेम, जो नित नव रस के श्रोत से अभिन्न कर उसे कृत-कृत्य कर देता है।

यह स्वीकार करना कि विकास के नियम की धारा में कीट-पतंगों और पशुओं के वाद मनुष्य का शरीर प्रकट हुआ, भ्रमात्मक अंध-विश्वास है। इस धारा के विचारों ने जीव-धारियों में एक घटक (सैल) से वहु घटक (माल्टीसैल) के होने की कल्पना के अतिरिक्त इनमें पाए जाने वाले जाति-धर्म को और उसकी संतानों में वांचित और निर्धारित रूप में उतरने की विशेषता पर ध्यान नहीं दिया। मनुष्य में इस प्रकार के जाति-धर्म का पूर्व अभाव मिलता है। पशु-पक्षी जाति-धर्म के कारण विना कुछ सीखे जीवन व्यापार चला लेते हैं, किन्तु मनुष्य जाति-धर्म के अभाव में विना कुछ सीखे जीवन व्यापार चलाने में असमर्थ है।

मनुष्य के सीखने के मार्ग में भी वैज्ञानिक यह ही विश्वास करते हैं कि आदि-सृष्टि में मनुष्य ने देख-देख कर अनुभव (एक्सपीरिएंस) से सीखा और प्रयत्न और गलती (ट्रायल और एरर) के नियम से संस्कृति का निर्माण किया। इस विश्वास को यदि परीक्षा में उतार-कर स्कूलों में वच्चों को छोड़ दें कि वे स्वतंत्र अनुभूति से कुछ सीखकर दिखावें, तो असफलता ही हाथ लगेगी। सत्य तो यह है कि मनुष्य में देखने की भी कला सीखनी पड़ती है। जाति-धर्म के अभाव में देखना भी अनुभव पैदा नहीं कर सकता। मनुष्य में सलाह लेने की एक विशेष योग्यता है। 'हिप्नोटाइज, करके भी सलाह दी जाती है और यह सलाह वड़ी प्रवल होती है। मनुष्य का सारा कर्म और व्यवहार इन पाई हुई सलाहों पर चलता है। सत्संग की पद्धति सत्-सलाह लेने की ही पद्धति है। इन मंत्रों के विना मनुष्य का जीवन इस भूमि पर उतरना असम्भव था। जिस विधाता ने वया

को घोंसले बनाने की कला जाति में दी, उसी विधाता ने आदि-मानव को मंत्र के रूप में वह मूल सलाह दी जिससे उसका जीवन इस भूमि पर संभव हुआ। इन्हीं सलाहों पर उसका देखना और करना सम्भव हुआ। इसी पद्धति पर सभी शिक्षणालय कार्य कर रहे हैं।

मनुष्य को सब कुछ देकर स्वतंत्र करने वाले ने अपने को ऐसा छिपा लिया है कि मनुष्य समझने यही लगा है कि सब कुछ उसकी ही सामर्थ्य का परिणाम है। इतने पर भी विवेक के सूर्य में वह मंत्रणा देता है और जिज्ञासु उसे सदा पाते ही रहते हैं। मनुष्य इतने पर भो अपने को ऋणी न अनुभव करे तो यह उसकी कृतघ्नता हैं। मनुष्य माता, पिता और आचार्य होकर उसके अन्दर रहने वाले मनुष्य को आनन्दित देखना चाहता है। यह आनन्दमय जीवन सत्-समाज और सत्-संस्कृति की सेवा से ही सम्भव है। क्योंकि मनुष्य समाज वाला, सस्कृति वाला है। मनुष्य के जीवन का यह सत्य कि वह ऋणी है, यदि उसके संस्कार में भर जाय तो सब कुछ सिद्ध ह।

प्रश्न—हमारे आश्रमों में आत्मीयता दीखती नहीं—उसका इलाज क्या है ?

उत्तर—उपाय यही है कि यह कमी महसूस हो। कमी है—यह दीखता है तो इस विषय पर आपस में गप-शप करने के लिए सहज बैठा जाय। इससे काफी प्रश्न हल होते हैं। दूसरी बात, हमारे आश्रम का जो ध्येय है वह मन में कायम हो। हम आश्रम में किसलिए आए हैं ? इस ध्येय का सतत स्मरण रहेगा तो आत्मीयता रहेगी।

(बाबा—श्रीविनोबा भावे)

परम भक्त श्री लारेंस

(भगवद्विश्वास-सम्बन्धी उनके उद्गार)

भगवान के साथ निरन्तर वार्तालाप के अभ्यास द्वारा अपने को भगवत्‌ - सान्निध्य के भाव में भली भाँति स्थिर कर लेना चाहिए । भगवान्‌ के साथ (मानसिक) वार्तालाप को छोड़कर तुच्छ एवं मूर्खता भरी बातों को सोचना लज्जा की बात है ।

हमें चाहिए कि अपने भगवद्विश्वास को सजीव बनायें । भगवान में हमारा विश्वास कितना कम है, यही तो शोचनीय विषय है । भगद्विश्वास को अपने आचरण का आधार स्तम्भ न बनाकर लोग मनोविनोद के लिये प्रतिदिन बदलने वाले तुच्छ साधनों का आश्रय लेते हैं । भगवद्विश्वास की साधना ही भगवान्‌ की सच्चो आराधना है और यही हमें पूर्णता के अति निकट ले जाने के लिए पर्याप्त है ।

लौकिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्र में हमें कुछ न रखकर सर्वस्व भगवान्‌ को समर्पित कर देना चाहिए और उनके प्रत्येक विधान में सन्तोष का अनुभव करना चाहिए, चाहे वह विधान सुख के रूप में प्रकट हो अथवा दुःख के । आत्म-समर्पण हो जाने पर विधान के सभी रूप हमारे लिये समान हो जायँगे । प्रार्थना में जब हमें नीरसता, भावशून्यता अथवा शिथिलता का अनुभव हो, उस समय हमें भगवद्विश्वास की आवश्यकता होती है ; भगवद्विश्वास के अनुपात से ही भगवान्‌ हमारे प्रेम की परीक्षा लेते हैं । यह वही समय है जब हम समर्पण के सुन्दर एवं सफल कार्य कर सकने हैं । ऐसा एक भी कार्य बन जाने पर वह हमारी आध्यात्मिक उन्नति को प्रायः अग्रसर करने में सहायक होता है ।

बुद्धि और आत्मशक्ति द्वारा होने वाली क्रियाओं में हमें एक विशेष अन्तर देखना चाहिए । आत्मशक्ति से सम्पन्न होने वाली क्रियाओं के सामने बुद्धि द्वारा होने वाली क्रियाओं का कुछ भी महत्व नहीं । हमारे लिये यही एक कर्तव्य है कि भगवान से प्रेम करें और उन्हीं में रमण करें ।

भगवद् प्रेम से रिक्त निग्रहकरण

के जितने भी साधन सम्भव हो सकते हैं, यदि उनको जुटा लें तो भी उनसे हमारे एक भी पाप का नाश नहीं हो सकता। सम्पूर्ण हृदय योग के द्वारा भगवान से प्रेम करने पर हमारे पापों का स्वतः मार्जन हो जाता है। उसके लिए चिन्ता की कहीं गुंजाइश नहीं रह जाती। ऐसा लगता है, मानो भगवान ने बड़े-से-बड़े पापियों पर महान्-से-महान् अनुग्रह कर अपनी दया का एक अनुपम कीर्तिस्तम्भ खड़ा कर दिया है।

बड़े से बड़े क्लेशों और महान् से महान् सुखों का आध्यात्मिक जगत् में मुझे अनुभव हुआ, उसके सामने भौतिक जगत् के दुःख-सुख कुछ भी नहीं। मैं तो भगवान् से यही माँगता हूँ कि कहीं मुझसे उनका अपराध न बन जाय; इसके सिवा न तो मुझे किसी बात की परवा है और न किसी का भय ही।

भगवद्विश्वास के प्रति मेरी जो महत्ता की भावना एवं आदर-बुद्धि है, वही मेरे आध्यात्मिक जीवन का मूल आधार है। इस तथ्य को एक बार हृदयंगम कर लेने पर मुझे केवल इसी बात का सदा ध्यान रहा है कि मेरे सब काम भगवत्प्रीत्यर्थ हों और इससे इतर विचारों के लिये मेरे मन में कहीं कोई स्थान न रहे।

जो व्यक्ति भगवान के प्रति पूर्ण समर्पण कर देता है और उनके लिये प्रत्येक कष्ट सहन करने को कटिबद्ध हो जाता है, भगवान उसे न तो कभी धोखा दे सकते हैं और न बहुत समय तक उसे यन्त्रणा का भोग ही कराते हैं।

भगवच्छरणागति के लिए न तो किसी विज्ञान की आवश्यकता है और न किसी विशेष कला की ही; आवश्यकता है दृढ़ निश्चय से युक्त हृदय की, जो अनन्य भाव से भगवान् का चिन्तन करे और उन्हीं में सर्वभावेन रमण करे।

जो वस्तुएँ एवं क्रियायें हमें भगवदभिमुख न करें, भगवन्मार्ग में केवल कंटक रूप ही बनें, उनका सच्चे हृदय से त्याग ही भगवच्छरणागति की प्रक्रिया का सुन्दर स्वरूप है। स्वतन्त्रता एवं सरलता पूर्वक निरन्तर भगवान के साथ वार्तालाप करने का हम अपने को अभ्यासी बनायें। उनको अपने अत्यन्त निकट अनुभव करें; उनके सम्मुख प्रतिक्षण अपने को समझें। जिस कार्य के करने में हमें सन्देह हो, उसके विषय में भगवान् की इच्छा जानने के लिए एवं जिस कार्य को हम स्पष्ट रूप से मानते हैं कि भगवान हमसे करवाना चाहते हैं, उसको समुचित ढंग से करने के लिए हम उनसे उनकी सहायता की याचना करें और कार्य को करने के पहले उसे भगवान् को समर्पित कर दें तथा

उसके सम्पन्न हो जाने पर उन्हें उसके लिये हार्दिक धन्यवाद दें।

अपनी त्रुटियों एवं कमजोरियों अथवा पापों से निरुत्साहित न होकर भगवान् के अनन्त गुणों पर भरोसा रखते हुए उनकी अहैतुकी कृपा के लिये हम पूर्ण श्रद्धा के साथ प्रार्थना करें।

जब हम अपनी शंकाओं के समय निरुपाय होकर भगवान् से उनके समाधान के लिए प्रार्थना करते हैं, तब वे दयालु हमें सदा प्रकाश प्रदान करते हैं।

भगवान् की शरण में जाने की सर्वोत्तम प्रक्रिया तो यही है कि लोगों की प्रसन्नता का विचार न करके हम अपने नित्यप्रति कार्यों को जहाँ तक हो सके, एकमात्र भगवत्प्रीत्यर्थ ही करें।

हमें चाहिए कि निश्चित रूप से हार्दिक प्रसन्नता के साथ अपना सारा विश्वास भगवान् में स्थापित कर दें और उन्हीं के पादारविन्दों में पूर्ण रूपेण आत्म समर्पण भी करें। ऐसी दृढ़ निष्ठा बनाये रखना चाहिये कि भगवान् कभी किसी काल में भी हमें धोखा नहीं दे सकते।

भगवत्प्रीत्यर्थ छोटे से छोटा कार्य करते हुए हमें कभी उकताना नहीं चाहिए। भगवान् कार्य की महत्ता की ओर नहीं देखते; वे देखते हैं एकमात्र हमारी भावना को, जिससे प्रेरित होकर हम कार्य करते हैं। ऐसा प्रायः होता है कि आरम्भ में हम प्रयत्न करते हुये भी कभी-कभी असफल हो जाते हैं; इस पर न तो आश्चर्य प्रकट करना चाहिए और न निराशा ही। प्रयत्न को अविरत रूप से जारी रखने पर अन्त में हमें एक ऐसी सुन्दर स्थिति प्राप्त होगी, जो हमसे बिना हमारी किसी सावधानी के ऐसे कार्य कराती रहेगी जिनसे हमें अत्यन्त प्रसन्नता प्राप्त होगी।

श्रद्धा, विश्वास तथा दया—ये धर्म की साररूप त्रिपुटी हैं; इसके सेवन से हमारा जीवन भगवत्संकल्पमय हो जाता है और इसके अतिरिक्त जो कुछ बच रहता है, उसका कोई महत्व नहीं। हां उसको हम श्रद्धा एवं दया से अभिभूत कर अपने लक्ष्य की प्राप्ति में प्रयुक्त कर सकते हैं।

श्रद्धा के सामने सब कुछ सम्भव है, विश्वास कठिन को सुगम बनाता है और प्रेम तो उसे सुगमतर बना देता है। और इन तीनों सद्गुणों का जो दृढ़ता पूर्वक अभ्यास करता है उसके लिये तो कहना ही क्या, समस्त मार्ग कण्टकहीन होकर उसका स्वागत करता है।

भगवच्छरण की प्राप्ति की भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रक्रियाओं को मैंने बहुत-सी पुस्तकों में पढ़ा और आध्या-

त्मिक जीवन बनाने के लिए विविध प्रकार के साधनों का अध्ययन भी किया। परन्तु मुझे ऐसा लगा कि जिस बातकी खोजमें मैं हूँ यदि पुस्तकों में लिखे हुए सव साधनों के अनुसार चलूँ तो ये मेरा मार्ग सुगम वनाने की अपेक्षा और भी जटिल वना देंगे। मेरी लालसा एक मात्र सव प्रकार से भगवान् का ही हो जाने में थी। अन्त में मैंने निश्चय किया कि पूर्ण (भगवान्) की प्राप्ति के लिए मैं सम्पूर्ण लौकिक-वस्तुओं का त्याग कर दूँ। और पाप-मोचन भगवान् में पूर्ण रूपेण आत्म-समर्पण कर मैंने उनके सिवा अन्य सब वस्तुओं का परित्याग कर दिया। तथा मैं इस प्रकार रहने लगा मानो मेरे और भगवान् के सिवा संसार में दूसरा कोई है ही नहीं। कभी में अपने को भगवान् के सम्मुख ऐसा समझता जेसे न्यायाधीश के चरणों पर गिरा हुआ कोई अपराधी। और कभी अपने पिता, अपने परमात्मा के रूप में अपने हृदय में उनका साक्षात्कार करता। अधिकतर यथा सम्भव भगवान् को मैं अपने सम्मुख समझ कर पूजा-अर्चा करता। जब-जब मेरा मन इधर-उधर भटकता,उसी-उसी क्षण मैं उसे खींच कर भगवान् में लगा देता। इस प्रक्रिया में मुझे पर्याप्त संताप का अनुभव हुआ। तथापि कठिनाइयों के उपस्थित हाने पर और मन के वलात विचलित हो जाने पर भी मैं विना किसी घबराहट या अशान्ति के तत्परता के साथ अपने अभ्यास में लगा रहता। उपासना के निर्धारित समय में जैसे मैं भगवान में संलग्न रहता, उसी प्रकार मैंने सारे दिन रहने का अपना नियम बना लिया। सव समय, प्रतिपल, प्रतिक्षण, यहाँ तक कि कार्य में अति व्यस्त रहने पर भी, मैं अपने मन को भगवद्विस्मरण करने वाले समस्त विचारों से वचाता रहता।

भगवान केप्रति मैंने सव प्रकार के अपराध किए हैं, मेरा जीवन दुर्गुण और भ्रष्टाचार की मूर्ति ही है, ऐसा मानकर मैं अपने आपको सबसे अधिक दीन-हीन समझता हूँ। अपन अपराधों के पश्चात्ताप से अभिभूत होकर मैं भगवान के सम्मुख इनको स्वीकार कर क्षमा माँगता हूँ और अपने-आपको उनके हाथों में सौंप देता हूँ वे जैसा चाहें मेरे साथ व्यवहार करें। परन्तु दण्ड देना तो दूर रहा, भगवान मेरे अपराधों की ओर देखते तक नहीं, कृपा-दया से सरावोर होकर वे मुझे आलिंगन करते हैं। अपने साथ-साथ खिलाते हैं और अपने कर कमलों से मुझे परोसते हैं, यहां तक कि अपने भण्डार की चावी मुझे सौंप देते हैं। हजारों प्रकार से वे मेरे साथ बात-चीत तथा क्रीड़ाएँ करते हैं और पूर्ण रूप से मुझे अपना कृपा-पात्र वना लेते हैं। इस प्रकार समय-समय पर मैं अपने आपको

भगवान् की पवित्र सन्निधि में अनुभव करता रहता हूँ।

कदाचित् हम यह समझ पाते कि भगवान् की कृपा एवं सहायता की हमें कितनी अधिक आवश्यकता है तो हम कभी एक क्षण के लिए भी भगवद्विस्मरण न कर सकते। आप मेरी बात मानिये और इसी क्षण पवित्र एवं दृढ़ निश्चय कीजिये कि अब से जान-बूझकर भगवान को कभी नहीं भुलायेंगे और जीवन के शेष दिन परम पावन भगवत्-सान्निध्य में ही व्यतीत करेंगे। यदि भगवान् की यह इच्छा हो कि उनके प्रेम के लिए आप अन्य सब सुखों एवं आश्वासनों से वंचित किये जायँ तो आशा है, आप इसका भी सहर्ष अनुमोदन करेंगे।

भगवान् में हमारी अनन्य श्रद्धा हो, इसके लिए आवश्यक है कि हम अन्य सब प्रकार की चिन्ताओं को तिलांजलि दे दें। बाहरी विशेष विधि-विधानों को जिनमें मनुष्य प्रायः विवेक शून्य होकर प्रवृत्त होते हैं और जो चाहे देखने में कितने ही अच्छे क्यों न हों, नमस्कार कर लें; क्यों कि आखिर ये बाहरी साधन ध्येय को प्राप्ति के लिए ही तो किए जाते हैं, और जब भगवत्-सान्निध्य के अनुभव में हम स्वयं भगवान को ही प्राप्त कर लेते हैं, जो हमारे ध्येय हैं, तो फिर इन साधनों का आश्रय ग्रहण करने की हमें क्या आवश्यकता रह जाती है? अपने हृदय के अनेक भावों द्वारा कभी भगवान् की स्तुति आराधना एवं आराधना की अभिलाषा करते हुए और कभी उन्हीं को आत्म-समर्पण तथा धन्यवाद देते हुए कृतज्ञता-पूर्वक हम उन्हीं की सन्निधि में रहें और उन्हीं में रमण करें।

नितान्त निष्कपट एवं दीन-भाव से हम अपने समस्त अपराधों को भगवान के सम्मुख स्वीकार कर लें और सदैव विनम्र बने रहें। प्रार्थना करते समय शब्दाडम्बर रचा जाय, ऐसा मैं आपको कदापि परामर्श नहीं दे सकता; क्योंकि प्रार्थना के समय अब हम वाग्विलास की क्रीड़ा में फँसकर लम्बे-चौड़े स्तुति-पाठ आलापने लगते हैं, तो हमारा मन बहुधा अवसर पाकर चुपके से भाग निकलता है। प्रार्थना के समय भगवान् के सम्मुख आप अपने-आप को ऐसा समझें कि मैं एक मूढ़ अथवा पक्षाघात से ग्रस्त भिक्षुक हूँ। अत्यन्त दीन-हीन अवस्था में एक परम दायलु धनवान् के द्वार पर पड़ा हूँ। उस ससय आपका एक ही काम है कि अपने मन को सब ओर से बटोर कर एक मात्र परम पिता भगवान् की सन्निधि के अनुभव में लगा दें। फिर भी यदि कभी आपका मन पूर्वाभ्यास के कारण

भगवान् से हटकर इधर-उधर भटकने लगे, तो इसके लिए आप विशेष चिन्तित न हों; क्योंकि खेद एवं विषाद मन को अधीन करने में सहायक होने की अपेक्षा उसे और भी विक्षिप्त वना देते हैं, वल्कि आत्मवल के द्वारा अपने मन को फिर से शान्ति पूर्वक वापस खींचकर भगवान में लगावें। इस प्रकार यदि आप लगातार दृढ़ता-पूर्वक अभ्यास करेंगे तो भगवान निश्चय ही आप पर अनुग्रह करेंगे। प्रार्थना-काल में मन को सुगमता पूर्वक वश में तथा शान्त रखने का एक और भी उपाय है वह यह कि अन्य सब समय हम सावधान रहें। देखते रहें कि मन कहीं विषयों का चिन्तन तो नहीं कर रहा है। जव कभी वह भटके, आप उसे पुचकार कर लौटावें और भगवत्सान्निध्य के अनुभव में जोड़ दें। इस प्रकार वार-वार के अभ्यास से जब भगवच्चिन्तन उत्तरोत्तर वढ़ेगा, तव प्रार्थना काल में मन को शान्त रखने में आपको कुछ भी कठिनाई नहीं होगी और यदि कभी किसी समय वह विषयों का चिन्तन करने भी लगेगा तो वहाँ से उसे हटाने में आपको कोई परिश्रम नहीं होगा; क्योंकि भगवत्सान्निध्य की अनुभूति में जो परम सुख मिलता है उसका वह रसास्वादन कुछ तो कर ही चुका होगा।

आप दुःखों एवं क्लेशों से छूट जाँय, इसके लिए मैं भगवान से कभी प्रार्थना नहीं करता। मैं तो उस दयामय से यही हार्दिक प्रार्थना करताहूँ कि जितने समय तक वे आपको इन दुःखों एवं क्लेशों में रक्खें, आपको इन्हें सहन करने की शक्ति तथा धैर्य से भी सम्पन्न वनावें। जिस भगवान ने कृपा-वश आपके लिए दुःखों का विधान रचा है, आप उन्हें अपने सन्निकट अनुभव कर सुखी हों। वे जव चाहेंगे, इन्हें दूर कर देंगे। सचमुच वे लोग भाग्यशाली हैं जो दुःख में भी भगवान को अपने पास समझते हैं। आपको भी इसी प्रकार भगवान को अपने अत्यन्त समीप समझते हुए प्रसन्नता पूर्वक दुःख भोगने का अभ्यास करना चाहिये और जितने काल तक वे आपको दुःखरूप विधान में रखें, आप उनसे और कुछ न माँगकर केवल उसे सहर्ष सहन करने का ही वल माँगे। सांसारिक प्राणी यदि इन वातों को न समझ पावें तो उनमें आश्चर्य की कोई बात नहीं क्योंकि वे देहाभिमानी होने के कारण जड़ देह के सुख-दुःख से प्रसन्न और विषण्ण होते रहते हैं। रोग एवं क्लेशों को वे भगवान की ओर से आया हुआ मंगल-विधान न मानकर शरीर के कष्ट से दुःखी हो नाना प्रकार की यन्त्रणाओं को वाध्य होकर रो-रोकर

भोगते हैं, परन्तु जो लोग रोग को भगवान का कृपा-प्रसाद मानते हैं और समझते हैं कि यह सब तो हमारे अन्तः करण की शुद्धि के लिए ही प्रभु का रचा हुआ अनूठा ढंग है, वे भयानक रोग में भी प्रायः अत्यन्त सुख एवं आश्वस्तता का अनुभव करते हैं।

कितना अच्छा होता यदि आप विश्वास कर सकते कि भगवान किसी न किसी रूप में हम सब के सदैव सन्निकट रहते हैं, स्वस्थ अवस्था की अपेक्षा रोग में तो और भी विशेषरूप में वे हमारे पास उपस्थित रहते हैं। भगवान के अतिरिक्त आप किसी दूसरे चिकित्सक पर भरोसा न करें, क्योंकि मैं समझता हूँ, आपके रोग का इलाज उन्होंने अपने ही हाथ में ले रक्खा है। भगवान में पूर्ण विश्वास कीजिये और देखिये कि इससे आपके स्वास्थ्य पर कितना अच्छा प्रभाव पड़ता है। भगवान को छोड़कर केवल औषध आदि में विश्वास रखने से तो सुधार की अपेक्षा हानि ही होती है।

दूसरे, रोग को दूर करने के जितने भी उपाय आप करते हैं, उन सबकी सफलता भी तो भगवान की इच्छा पर निर्भर करती है। भगवान स्वयं ही जब हमारे लिए दुःख का विधान रचते हैं तो फिर भाई! उनको छोड़कर उसे दूर करने की और किस की सामर्थ्य है। सचमुच हमारे अन्तःकरण के मल को दूर करने के लिए ही भगवान हमें शारीरिक-रोग प्रदान करते हैं। शरीर और अन्तःकरण के रोगों का नाश करने वाले एक-मात्र भगवान-रूपी वैद्य की शरण ग्रहण कर सुख-शान्ति लाभ करना चाहिये।

भगवान आपको जैसी भी स्थिति में रक्खें, उसी में आपको संतुष्ट रहना चाहिये। आप मुझे चाहे कितना भी सुखी समझें पर मैं आपकी इस रुग्णावस्था से ईर्ष्या ही करता हूँ, क्योंकि दुःख के समय भगवान् के दर्शन विशेष रूप से होते हैं। भाई! भगवान साथ हो तो भारी से भारी दुःख-क्लेश को भी भोगते हुए जो आनन्द प्राप्त होता है उसके सामने स्वर्ग का सुख कुछ भी महत्त्व नहीं रखता और भगवान के विना महान् से महान् सुख भी नारकीय यन्त्रणा ही देने वाला होता है। भगवान के लिए जो कुछ भी दुःख भोगना पड़े उसमें एक विलक्षण सुखानुभूति होती है।

हमारा समस्त जीवन-व्यापार भगवत् प्राप्ति के लिए ही होना चाहिये भगवान में जितना-जितना हम प्रवेश करते हैं उतना ही अधिक उनकी जानने की उत्सुकता बढ़ती है। अपने प्रेमास्पद के परिचय के अनुपात से ही उसके प्रति हमारा प्रेम

होता है। जितना अधिक हमें उसकी महिमा का ज्ञान होता है उतनी ही महान गंभीर हमारी भक्ति उसके प्रति वढ़ती है। सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापक भगवान की असीम महिमा का जिस किसी को भी अनुभव हो जाता है, वह संसार की आधि-व्याधि और विषमता को सहज में ही उलंघन कर जाता है। सुख और दुःख दोनों में उसकी समान स्थिति हो जाती है क्योंकि भगवान और उनकी कृपा के अतिरिक्त उसके अनुभव के कोई दूसरी वस्तु आती ही नहीं! यही भगवत्प्रेम की महिमा है।
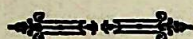
इन्द्रियों के व्यवहार में राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं। यह खतरा जिसने हटा दिया वह निर्भयता पूर्वक इन्द्रिय-व्यवहार कर सकता है। प्रसन्नता प्राप्त करता है। प्रसन्नता यानी चित्त की निर्मलता, निर्विकारता राग-द्वेष रहितता से चित्त निष्काम रहता और निष्कामता के परिणाम स्वरूप निर्विकारता सहज सधती है। साधक को अपनी सारी शक्ति चित्त की प्रसन्नता प्राप्त करने में लगानी चाहिए। वह सधा तो बुद्धि की स्थिरता के लिए स्वतंत्र करने की कुछ जरूरत नहीं है।

× × × × ×

क्रियावस्थ,।भावावस्था,ज्ञानावस्था-इन तीनों में विरोध नहीं। ज्ञानीपुरुष को शरीर की दृष्टि से भिन्न-भिन्न समय मे ये तीनों अवस्थाएं प्राप्त होती हैं। उसकी वृत्ति की अखण्डता को वाधा पहुंचाए बिना यह अवस्थाएँ आती हैं और जाती हैं। क्रिया के समय वह सज्जन-दुर्जन का विवेक करेगा। भावावस्था में सबका संग्रह करेगा। और ज्ञानावस्था में कहेगा मेरा-कोई नहीं है। ये तीन भूमिकाएँ स्थित प्रज्ञ की ही त्रिशूली हैं।

★

साधन-सार

● श्री कन्हैयालाल

सुनो साधको, यह साधन शिव सत्य सरस सुन्दर है,
ज्ञानपूर्वक अनुभव कर लो—मेरा तो नहिं कुछ है।
दृढ़तापूर्वक निर्णय कर लो—मुझे न चहिये कुछ है ॥१॥

आस्था से विश्वास करो, अपना तो एक 'वही' है।
और मिला जो कुछ लगता है, वह सब उसका ही है ॥२॥

ज्ञान और आस्था से ही, सत्सङ्ग सहज सम्भव है।
बल से तो सत्-चर्चा-चिन्तन और कार्य सम्भव है ॥३॥

प्रेम जगाने की यह 'टेक्निक', दीनबन्धु मेरे हैं।
शरणागति की है यह 'टेक्निक', हम प्यारे प्रभु के हैं ॥४॥

एक सन्त ने गङ्गातट पर ऐसा फरमाया है।
'लाल कन्हैया' को यह मधुमय प्रवचन अति भाया है ॥५॥

पवनार-आश्रम-जीवन की एक झाँकी

●

जीवन का–दिन भर का सारा काम एक निश्चित समय में पूरा हो जाना चाहिए, जीवन की जरुरतें इतनी कम हों और काम करने की गति-कुशलता यों बढ़े कि दिन भर का सारा काम छ:-साढ़े छः घंटों में पूरा हो जाय, वाकी समय ध्यान-चिंतन-मनन के लिए मुक्त रहे, ऐसी हमारी कोशिश है। छः-साढ़े छः घंटों में सारा काम पूरा करना, तो उसका ठीक विभागीकरण भी होना चाहिए। सो हमने हर काम के पीछे औसत घंटे मान लिए हैं, जैसे अहाता-पाखाना-सफाई आदि के लिए हर व्यक्ति के रोज ४० मिनट लगेंगे, खेती के लिए भी हर व्यक्ति रोज आध घण्टा दे। मजदूरी कमानी है, उसके लिए हर व्यक्ति के रोज तीन घण्टे के श्रम पर्याप्त होने चाहिये, उतना समय हर व्यक्ति प्रेस में काम करे। और रसोई वनाने तथा उसके अङ्ग के तौर पर दूसरे काम करने के लिए हर व्यक्ति के दो घण्टे माने हैं। पर आखिर है तो प्रयोग ही। निश्चित समय में काम नहीं भी पूरा होता है तो ज्यादा समय देना पड़ता है। ऐसे मौके पर टिचमिचाहट भी दिखाई देती है। और ऐसे मौके पर उस-उस विभाग का व्यवस्थापक स्वाभाविक ही परेशान भी होता है।

इन्सान की सारी नजाकत इकट्ठा हुई है उसकी जवान में। उसे जिन्दगी में सबसे ज्यादा लुत्फ आता है जवान की ख्वाहिशें पूरी करने में, कितनी तो हरकतें यह जबान उठाती रहती है और इन्सान की जिन्दगी का आधा वक्त इसी के पीछे खर्च होता है। प्राय: इन्सान की तो वात ही छोड़ दीजिए, यहाँ हम पन्द्रह-वीस जो इकट्ठा हुए हैं जिन्दगी का एक प्रयोग करने, उनकी भी सवसे बड़ी समस्या यही है। यहाँ के सव विभागों में सबसे ज्यादा कठिन, नाजुक और अधिक मेहनत-समय की माँग करने वाला विभाग है रसोड़ा।

बुधवार को सामूहिक बैठक के लिए वाबा के कमरे में सव इकठ्ठा हुए। आज भिन्न-भिन्न विभागों की

रिपोर्ट पेश होने वाली थी। माह में एक वार विभागीय रिपोर्ट पेश की जाती है। उससे हर विभाग में काम कैसे चल रहा है, क्या अड़चनें हैं इसकी जानकारी प्राप्त होती है। जव बावा को अजेण्डा दिखाया गया तव उन्होंने कहा "सर्व प्रथम रसोड़ा विभाग लो। बड़ा मनोरंजन रहेगा।''

रसोड़ा-व्यवस्थापक की रिपोर्ट पेश करने की खास तैयारी नहीं थी पर बावा ने उसी पर जोर दिया–"रिपोर्ट है नहीं का मतलव है कि सव उत्तम चल रहा है, कोई दिक्कत नहीं।""ऐसा तो नहीं,पर कुल मिला कर ठीक है ही..................!!

'वह कैसे, रिपोर्ट पेश करो' —बावा

आखिर रसोड़ा-व्यवस्थापक ने कहा–"ऐसे सव ठीक चल रहा है, पर शाम की ड्यूटी बांटने में थोड़ी दिक्कत आती है, क्योंकि कई लोगों का काम के बारे में अपना-अपना चुनाव रहता है।"

"मतलब ?"

"जैसे कि शाम के रसोड़े में काम करना लोग पसन्द नहीं करते।"

"क्यों ?"

खामोशी ! सब चुप ! फिर से वावा ने पूछा–"शाम को रसोड़े में काम करना क्यों और किसको पसन्द नहीं हैं ?"

काफी देर तक खामोशी रही। फिर एक की वाणी हल्के से खुली–"शाम को दूध देरी से आता है। वह गरम करना रहता है। इधर प्रार्थना शुरू हो जाती है। फिर प्रार्थना में आ नहीं सकते।"

"प्रार्थना में आने की क्या जरूरत है ? काम की वजह से प्रार्थना में न जा सकें, तो भगवान माफ करेगा, लेकिन रसोड़े का काम नहीं करेंगे, तो रसोड़ा माफ नहीं करेगा।"

फिर दूसरी भी जवान खुल गई- "दूध का वड़ा वर्तन मेरे से उठाया नहीं जाता। पीने का पानी उवालना पड़ता है, वे वड़े-बड़े वर्तन भी उठाए नहीं जाते। वड़े-बड़े वर्तन मलने में भी साँस भर आती है.........।"

"यह तो शारीरिक कमजोरी है। तो ऐसा करें, दूध एक बड़े वर्तन के वदले दो छोटे-छोटे वर्तन में गरम करें। पानी गरम करने के भी छोटे-छोटे वर्तन हों। यह हो सकता है कि नहीं ?"

"हाँ, हो सकता है।" बाबा

फिर खामोशी। कोई बोलता नहीं। बावा को हँसी आ रही है। वे पूछते हैं–"शाम को रसोई का काम न करना मानसिक वृत्ति के कारण है या कोई शारीरिक कारण है ?"

"व्यक्ति तो शारीरिक कारण ही वताता है।"

"कारण व्यक्ति ही तो बतायेगा, और कौन वतायेगा ?" वाबा

सब हँसने लगते हैं। फिर खामोशी। खामोशी को देखकर बाबा हंसने लगते हैं—और हँसते ही रहते हैं, खूब हंसते हैं। आँखों से पानी आने लगता है। उस संसर्ग-जन्य हंसी से सभी दिल भर के हँसते हैं। बाबा बार-बार कहते रहते हैं—"बड़ा ही मनोरंजक विषय है।"

फिर भाइयों ने अपने-अपने कारण बताये। किसी पर खेती का जिम्मा है, शाम को दो-एक घण्टे खेत में जाना पड़ता है, इसलिए रसोड़े का काम नहीं ले सकते हैं। किसी पर बड़े कोठार का जिम्मा है, अनाज-सफाई आदि में समय जाता है, इस-लिए नहीं आ सकते। कोई बुजुर्गों की सेवा का काम कर रही है। किसी को गर्मी के कारण सिर-दर्द होता है, इसलिए दोपहर में काम नहीं कर सकती.........आदि-आदि। तो क्या किया जाय?

"शाम को रोटी बनाना बन्द कर दें, सिर्फ मुरमुरा-चिउड़ा और दूध लें, हों तो फल........" एक सुझाव आया।

बाबा ने इस सुझाव का खूब समर्थन किया। पूछा यह किस-किस को पसन्द है?

सभी ने हाथ ऊपर उठाये। पर एक रूठ गयीं—"यह क्या है! नाश्ते में भी तो चिउड़ा-मुरमुरा ही मिलता है। शाम को भी यही मिलेगा। सिर्फ एक बार पूरा भोजन। पहले ही हमारी सेहत कमजोर है, वह और कमजोर हो जायगी।"

"तो तुम ऐसा करो, तुम्हारी और इस तरह जिसको आवश्यकता होगी उसकी रोटी शाम को तुम ही बना लो......" बाबा।

नहीं, नहीं। हम अपनी-अपनी नहीं बनाएँगे......।" रोटी चाहने वाली दो रूठी आवाजें।

"फ़िलहाल यह प्रयोग एक हफ्ते के लिए ही करें........" एक सुझाव।

"ठीक है, हम भी चिउड़ा-मुरमुरा ही लेंगे। एक हफ्ते का अनुभव देखेंगे...." रोटी चाहने वालों ने कहा।

"लेकिन बुजुर्गों का क्या? उनके स्वास्थ्य के यह अनुकूल होगा?" एक हल्की-सी आवाज।

"बुजुर्गों का हम देख लेंगे, तुम तुम्हारा देखो।"—बाबा

और बीमारों का? दो-चार व्यक्ति पेशेण्ट हैं, बाबा का सुझाया हुआ आहार ही लेते हैं। बाबा ने कहा—'वे भी शाम को यही लेंगे।"

अन्त में निर्णय हो गया—

"शाम की रसोई में सिर्फ दूध-चिउड़ा रहेगा। यह निर्णय सप्ताह भर के लिए माना जाय।

("मैत्री" से साभार)

अमृत नैवेद्य

[गद्य काव्य]

(श्री कृपाशंकर लाल श्रीवास्तव)

प्राण-सखे ! मैं तुम्हारा हूँ । तुम मेरे हो । मेरी प्रत्येक चेष्टा तुम्हारे लिये है; न कीर्ति के लिए, न कंचन के लिये, न कामिनी के लिये । न पैसे के लिये, न प्रभुता के लिये, न पद के लिये । शूल और फूल तुम्हारे दिये हुये प्रेमोपहार हैं । शूल तुम्हारा हृदय मंथनकारी मार्मिक विरह है, फूल तुम्हारी समीपता की अनुभूति से सुगंधित दिव्य सुख से सरस चिन्मय मिलन है । तुम मेरे अभिन्न प्राण-सखा हो । मेरे लिये जितने अपने तुम हो उतना अपना कोई नहीं । तुम्हारे नाते से ही यह चराचर जगत अपना है अन्यथा इससे मेरा कोई संवंध नहीं ।

भूख, थकावट, गरीबी, निर्बलता, अपमान, उपेक्षा तुम्हारे रहस्यमय प्रीति रस से सिंचित और सुवासित हैं ! प्रेमास्पद । तुम मेरे हो; इसी सन्तोष के उल्लास से जीवन.पात्र लवालब भरा हुआ है । कहीं तिल धरने को स्थान नहीं । मृत्यु भी मुझे मेरे इस दिव्य सुख से वंचित नही कर सकती । तुम्हारी मधुर प्रीति का आकर्षण मेरा ध्यान है। तुम्हारी दिव्य दया मेरा ज्ञान है । तुम्हारे मार्धुय-अंक में मैं अभय हूँ ।

मृत्यु चाहे इसी क्षण आ जाये, सम्पति चाहे विपत्ति में बदल जाये, सुयश चाहे लोकापवाद में डूब जाये पर मेरे अभिन्न हृदय प्राण सखे! तुम्हारी प्यारी मुस्कान निरंतर मेरे रोम-रोम में निरंतन आशा, विश्वास, शाँति, प्रज्ञा को प्रवाहित करती रहती है । जब तुम मेरे हो तो मेरा अमंगल संभव ही कैसे हो सकता है ? निरंतर तुम्ही में मेरे मन-प्राण रमे हुये हैं । मुझे सुख, सुयश, सम्पत्ति जितनी भाती है उससे अधिक भाते हो तुम । उन सबके न रहने पर तो मैं रह भी सकता हूँ, किन्तु तुम न रहो तो मेरा रहना किसी भी हालत में संभव नहीं । मेरे हृदय की परम प्रीति का अमृत-नैवेद्य तुम्हारे ही लिये है, इसे ग्रहण करो ।

आध्यात्मिक चिंतन-अवस्था

—प्रोफेसर श्रीगणेशचन्द्रजी माथुर

चित्त का निवास मस्तिष्क तथा ललाट है और आत्मा का हृदय। चित्त की अचल अवस्था जब हृदय की स्वस्थ अवस्था से संतुलित होती है तो वह चिन्तन-अवस्था ही आध्यात्मिक अवस्था की परिचायक बन जाती है। जिस प्रकार टेलीविजन, समाज का ध्वनि और चित्र के माध्यम से बाह्य जगत के क्रिया-कलापों से सम्पर्क कराता है, इसी प्रकार चित्त के द्वार से बाह्य जगत की अच्छी या बुरी बातें, अच्छी या बुरी तसबीरें या दोनों एक साथ, मनुष्य के चिंतन-जगत में प्रवेश करते हैं।

चित्त रूपी प्रवेश-द्वार के कपाट खोलने की प्रक्रिया मानव की इच्छा-शक्ति से होती है। बाह्य जगत की बुरी बातें और बुरी तसवीरें धक्का लगाकर, चित्त के माध्यम से, मनुष्य-जगत के चिंतन-लोक में प्रवेश करना चाहती हैं, परन्तु हृदय-जगत के आलोक से अवतरित इच्छा-शक्ति बुराई के धक्कों से मुकाबला कर उसको हमारे चिन्तन-लोक में प्रवेश न होने देने का संकल्प बनाये रहती है।

फ्रांस के महान मनीषी रूशो ने भी इसी पवित्र इच्छा-शक्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। मनुष्य के हृदय में पूर्वाग्रह से हटकर स्वतः ही जिस इच्छा का सर्जन होता है, वह सदैव पवित्र और अच्छी होती है। उसने यह भी कहा कि इस प्रकार से सर्जित सभी मनुष्यों की इच्छा में कोई विभिन्नता और टकराव की कोई सम्भावना नहीं है। इस प्रकार की इच्छा को उसने (General will) सामान्य इच्छा की संज्ञा दी है। यह सामान्य-इच्छा ही तो आत्मा की आवाज है। आत्मा की आवाज ही अच्छाई और बुराई को परखने की कसौटी होनी चाहिये। अत: आदर्श-समाज के सर्जनार्थ विधि निर्माण के लिये आत्मेच्छा को ही बुनियाद मानना श्रेष्यकर होगा।

विश्व के भावी नागरिकों को अच्छा या बुरा बनाने का दायित्व वर्तमान शिक्षा-प्रणाली पर है। हमें देखना यह है कि वर्तमान विभिन्न देशों में प्रचलित शिक्षा-पद्धतियाँ इस ध्येय-प्राप्ति में कहाँ तक सफल हुई

हैं ? जहाँ तक हमारे देश भारत का सवाल है, जनसाधरण की यही राय बनी हुई है कि अधिकतर आजकल के स्कूल व कालेज अवांछित-अकर्मण्य तथा अनुशासन-शून्य, कागजी सर्टीफिकेट लिये छात्रों का सर्जन करते हैं। इस संदर्भ में एक अमेरिकन पर्यटक के एक संस्मरण को उद्धृत करना अनुचित नहीं होगा, जो उपर्युक्त जनवाणी की एक प्रकार से पुष्टि ही करता है।

जब अमेरिकन पर्यटक पूछता-पाछता किसी कॉलेज के बदले एक पागलखाने की अच्छी खासी बिल्डिंग के द्वार पर पहुँच गया तो वहाँ के चौकीदार ने कहा कि श्रीमान्जी, यह कॉलेज नहीं, पागलखाना है। इस पर पर्यटक ने लम्बी सांस लेकर कहा, "क्या फर्क पड़ता है। कालेज नहीं, चलो पागलखाना ही देख लेंगे।"

तब चौकीदार ने बड़ी गम्भीर मुद्रा में पर्यटक को जवाब दिया—"श्रीमान्जी, आप देख तो बड़ी खुशी से सकते हैं, परन्तु कालेज और पागलखाने में फर्क तो है ही।" पर्यटक के यह पूछने पर कि क्या फर्क है, द्वारपाल ने बतलाया कि "यहाँ पर प्रवेश प्राप्त बीमार बिजली तथा इन्सूलिन के इलाज से अपना मस्तिस्क ठीक ही करवाकर जाते हैं, परन्तु मैं यह नहीं कह सकता कि कालेज से छूटा विद्यार्थी अपना माथा ठीक ही करके निकलता है।"

इस व्यंग्यात्मक विचार में कहाँ तक सच्चाई है, उसे तौलकर बताने का यहाँ समुचित अवसर नहीं है, परन्तु यह कहना असंगत न होगा कि हमारी शिक्षा-पद्धाति द्वारा गढ़े हुए विद्यार्थियों में प्राय: सबल इच्छा-शक्ति और संतुलित चिंतन का अभाव होता है और यही कारण है कि हम उनमें सर्जनात्मक प्रवृत्ति के स्थान पर विध्वंसात्मक वृत्ति को ही प्रतिफलित होता देखते हैं।

इस किंकर्त्तव्य विमूढ़ता के अनेक कारणों में एक कारण यह भी है कि वर्त्तमान शिक्षण-प्रणाली में उन साधनों तथा परम्पराओं की उपेक्षा की गई है जो कि चित्त के आध्यात्मिक नियन्त्रण के लिये नितान्त आवश्यक हैं। चित्त की चंचल अवस्था का स्पष्टीकरण करते हुए कठोपनिषद में एक जगह उल्लेख हुआ है—

इस शरीर रूपी रथ को इन्द्रियों रूपी घोड़े (जीभ, आँख, नाक आदि) खींचते हैं जिसके मन (जो बड़ा चंचल है) रूपी लगाम लगी है। आत्मा रूपी सारथी द्वारा हमें इन्द्रियों को नियन्त्रित करना चाहिये। यह चित्त एक सेकिन्ड से भी कम समय में

शताब्दियों की सीमा छलांग कर रामायण युग की बातें सोचता है, उसी क्षण देशों की दीवारें तोड़कर अमेरिका में हो रहे संयुक्तराष्ट्र संघ के सम्मेलन का स्मरण करता है, तो २१ वीं शताब्दी में बनने वाले वैज्ञानिक ग्राम की झाँकी भी देखता है, अस्तु ! चिंतन के क्षेत्र में भूत, भविष्य और वर्त्तमान की कोई सीमा नहीं है। इसका क्षेत्र असकुंचित है जिसका प्रभाव हमारी संकल्प-शक्ति पर पड़े विना नहीं रह सकता।

अतएव हमें यह निर्णय लेते हुए तनिक भी संकोच नहीं होना चाहिये कि चित्त का प्रवेश द्वार ही वह पहली सीढ़ी है जहाँ से मनुष्य का अच्छा या बुरा होना आरम्भ होता है। यदि अस्वस्थ चिन्तन की आदत बचपन से ही रोकी जाने की व्यवस्था आजकल की शिक्षण-व्यवस्था में हो जाये तो निश्चय ही भारत के भावी-नागरिक हमारी आशा के अनुरूप ढल सकेंगे।

इसलिये आध्यात्मिक चिन्तन-अवस्था का प्रत्यावर्तन अनिवार्य है। चित्त की चंचल गति को आत्मा के सर्वश्रेष्ठ प्रकाश की ओर प्रेरित करना चाहिये। (Process of subordinating mind toward the soul) पतंजलि ने इस सन्दर्भ में कहा है—"योगश्चित्तवृत्ति निरोध:" चित्त-वृत्तियों का निरोध ही योग है। यदि चित्त चंचल है तो वह मनुष्य के लिये कोई-न-कोई समस्या उत्पन्न करता रहता है। योग चंचल चित्त को एकाग्र करने की साधना है। चित्त के माध्यम से ही मनुष्य संसार से प्रभावित होता है। चित्त को विवेक-विनाशक तथा दुःखदायक वस्तुओं, स्कन्धों, घटकों तथा अवस्थाओं से अलग कर सुख-शान्ति के स्रोत की ओर उन्मुख कर अनवरत प्रवाहित रखना ही योग है।

मन को एकाग्र करने के लिये प्राणायाम, ध्यान, समाधि आदि व्यावहारिक साधनों की आवश्यकता होती है। बड़े हर्ष की बात है कि हमारी यौगिक शिक्षा-प्रणाली को विदेशों में आजकल सार्वजनिक मान्यता प्राप्त हो रही है। भौतिक विकास और मानसिक संकीर्णता के बोझ से निकलकर अब मनुष्य प्राकृतिक सरलता की अवस्था की ओर लौटने का प्रबल इच्छुक हो गया है और इस ओर उसको लौटा ले आने में भारतीय योग-विद्या के विश्व-व्यापी प्रचार का अनुपम योग-दान रहा है, परन्तु भारतीय इतिहास का यह बहुत ही दुःख-दुर्भाग्य पूर्ण अङ्ग रहा है कि जब विदेशी भाषा तथा विदेशीय विद्वानों के प्रचार-प्रसार द्वारा हमारी सांस्कृतिक श्रेष्ठता-महत्ता को समझाने का प्रयास किया जाता है तब कहीं जाकर उसकी

गरिमा हमारी समझ में आपाती है।

योग की शिक्षा हमारे वर्त्तमान शारीरिक शिक्षा (Physical Education) का समुचित स्थान ले सकती है। हमारे देश की आर्थिक अवस्था के कीर्तिमान वड़े दुख तथा निराशाजनक हैं। अगर आज एक भारतीय की दैनिक-औसत-आय केवल ५० पैसा हो सकती हैं और ऐसा होने पर भी हमारी शिक्षण-व्यवस्था यदि करोड़ों रुपये वार्षिक खर्च कर क्रिकेट और हाकी जैसे महँगे खेलों को शारीरिक-शिक्षा प्रणाली का अभिन्न अंग वनाये हुए है, तो यह विकास का सूचक न होकर ह्रास के पोषक होने की कहानी ही है।

इसके अतिरिक्त आध्यात्मिक-चिंतन-प्रणाली शनैः शनैः आनन्द-दायक अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण का निर्माण करती है। दृढ़ संकल्प के लिये आध्यात्मिक चिंतन अवस्था, अनिवार्य रूप से सहायक सिद्ध होती है। इस प्रकार के प्रत्येक संकल्प के मूल में पवित्रता की उपलब्धि रहती है। पवित्रता का आधार सच्चाई, निर्भीकता और अहिंसा है।

मस्तिष्क को इस प्रकार अधीनस्थ करने की व्यवस्था की पुष्टि एक बौद्ध प्रार्थना से भी होती है जो इस प्रकार है—

सभी महात्माओं के सामने मैं सिर झुकाता हूँ, मैं सभी पैगम्वरों के सम्मुख नत-मस्तक हूँ। मैं सम्पूर्ण संसार के पवित्र पुरुषों एवं पवित्र नारियों के सम्मुख नत होता हूँ। वह निर्णय निश्चय ही पवित्र होगा जो आत्मा के अधीनस्थ अवस्था में लिया गया है, जैसा कि युग-द्रष्टा विवेकानन्द ने इस सन्दर्भ में यह चित्रण विल्कुल ठीक ही किया है कि आध्यात्मिक-चिन्तन सहिष्णु दृष्टिकोण का ही निर्माण करता है—

"उस हिन्दू पर मुझे तरस आता है, जो ईसामसीह के चरित्र में किसी सौन्दर्य का दर्शन नहीं कर पाता। मुझे उस ईसाई पर दया आती है जो हिन्दू-ईश का सम्मान नहीं करता है। एक मनुष्य जितना ही अधिक अपने ऊपर ध्यान देता है उतना ही कम वह अपने पड़ोसियों पर ध्यान दे पाता है। जो लोग दूसरों को अपने धर्म में दीक्षित करते फिरते हैं, जो लोग दूसरों की आत्माओं का उद्धार करने में व्यस्त रहते हैं, वे प्रायः अपनी आत्मा को भूल जाते हैं।"

इसलिये हमारे मस्तिष्कों का मार्ग-दर्शन हमारे ही आत्मा रूपी प्रकाश स्तम्भों से होना चाहिये। इस आत्मप्रकाश को विद्यार्थियों को उपलब्ध कराने के लिये व्यवस्थित स्वस्थ धार्मिक ज्ञान की भी आवश्यकता है। काश हमारे शिक्षाशास्त्री

इसका प्रावधान, अनिवार्य रूप से, सभी निकायों के छात्रों की भारतीय-संस्कृति विषय के अन्तर्गत, पढ़वाने के निर्णय में रुचि लें।

चित्त को आत्मा की ओर लगाने वाला, अर्थात् अन्तर्मुखी (Intorvert) स्वार्थ-लोलुप न होकर सर्वोदयी दृष्टि का ही अनुशीलन करने वाला होगा, जिसके चिंतन की नींव में घृणा न होकर प्रेम होगा और मोह न होकर त्याग होगा। अतः चिन्तन का आत्मीकरण ही आध्यात्मिक अवस्था का साक्षीकरण है और यह अवस्था असंदिग्ध रूप से मोह-शून्य होती है और मोह का क्षय होना ही वास्तविक आनन्द की प्राप्ति है, या इस जीवन में मोक्ष-प्राप्ति की अवस्था का है।

卐

संघ-समाचार

"सर्वसमर्थ प्रभु की अहेतुकी कृपा से शाखा सभा बहराइच को दिनाङ्क २३-६-७१ से २९-६-७१ तक सत्सङ्ग-समारोह मनाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ परम पूज्य स्वामीजी महाराज तथा परम भक्तिमती देवकी वहिनजी के अमृतोपम प्रवचन प्रति-दिन चारों बैठकों में होते रहे। नगर के सहस्त्रों नर-नारियों ने संघ की जीवन-प्रदायिनी विचारधारा से प्रेरणा प्राप्त की। 'अपने द्वारा अपने को बदलने से' अथवा 'व्यक्तिगत क्रान्ति से' ही अपना कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण सम्भव है--इस विषय पर सम्पूर्ण सप्ताह विशिष्ट विचार विनिमय हुआ।

बाहर से आये हुये सत्सङ्गी भाई-बहिनों के भोजन एवं आवास का प्रवन्ध स्थानीय डालमिया धर्मशाला में था। धर्मशाला के हाल में ही सत्सङ्ग-समारोह का आयोजन हुआ। इस आयोजन से नगर में संघ की विचार-धारा का व्यापक प्रसार हुआ।

भवदीय :
शिवकुमार मिश्र
मंत्री—शाखा सभा बहराइच

श्री तुलसीदास जी

—श्री गिरिजेश जी मिश्र

सियाराम सो पारस मणियां, मानव को विश्वास मिला।
भारत मां हुलसी पा हुलसी, जिससे तुलसी दास मिला।।

(१)

मात-पिता ने त्याग दिया, तो सिया राम-मय-जग जाना।
नरहरि गुरु की शरण मिली तो, नर में हरि को पहिचाना।।
ठुकराया निष्ठुर समाज ने, पर सिखलाया अपनाना।
रत्नावलि से ज्ञान-रत्न पा, पत्नी को माता माना।।
इसी लिये तो सियाराम को, तुलसी उर आवास मिला।
भारत मां हुलसी पा हुलसी, जिससे तुलसी दास मिला।।

(२)

तुमने नर को नारायण कह, मानव को सम्मान दिया।
दानव की दानवता दिखला, रावण को अपमान दिया।।
शवरी, गीध, अहिल्या तारे, हरि-जन को सुस्थान दिया।
राम ऋणी हो गये भक्त के, तुमने वह हनुमान दिया।।
सागर लांघा द्रोणागिरि ले, उड़ने को आकाश मिला।
भारत मां हुलसी पा हुलसी, जिससे तुलसी दास मिला।।

(३)

पराधीन सपनेहु सुख नाहीं, स्वतन्त्रता आदेश दिया।
राजनीति का, धर्म नीति का, कर्म-पूर्ण सन्देश दिया।।
कर के खल-वन्दना, अहिंसा का, शुभ-ज्ञन विशेष दिया।
जग-विजयी-रथ, ज्ञान-दीप दे, आत्म-ज्ञान-सन्देश दिया।।
सत्य, अहिंसा, त्याग-मूर्नि लख, गान्धी को आभास मिला।
भारत मां हुलसी पा हुलसी, जिससे तुलसीदास मिला।।

(४)

कवि-गुरु ! हृदय सर्मपित तुमको; पावन-यश हम गायेंगे।
अव प्रसन्नता से स्वतन्त्रता के, दिन सदा मनायेंगे।।
मुक्ति मिलेगी जग-बन्धन से, भव सागर तर जायेंगे।
हे-गुरुवर ! विश्वास करो, हम राम-राज्य ही लायेंगे।।
तुलसी दास, दास जग के तो, जग तुलसी का दास मिला।
भारत मां हुलसी पा हुलसी, जिससे तुलसी दास मिला।।

साधकोपयोगी बातें-

साधन में सिद्धि के लिये असाधन का त्याग एवं सजगता अनिवार्य

—श्री जीवनरामजी

(जैसा मैंने सुना और समझा)

सभी मनुष्य सुख चाहते हैं, परन्तु असत् को साथ रखकर तथा असत् के द्वारा ही सच्चा सुख प्राप्त करना चाहते हैं, असत् का त्याग करने की वात तो कभी सोचते ही नहीं। वस, भूल यहीं से शुरू होती है। कारण, असत् के त्याग किये विना सच्चे सुख की प्राप्ति तो कितने ही सुन्दर साधन करते रहने पर भी मनुष्य को हो नहीं सकती। वह कितना ही प्रयास करे, जप करे, तप करे, तीर्थ करे, व्रत करे, ध्यान करे, यज्ञ करे, दान करे, और भी जो सत्-शास्त्रों में साधन बताये हैं वह सभी करे, परन्तु जव तक मनुष्य अपने जाने हुए हुए असत् का त्याग नहीं करेगा, तव तक सच्चा सुख स्वप्न में भी नहीं मिल सकता, यह बात परम सत्य है। जैसे कोई मनुष्य अफीम की एक डली अपने मुख में दवा ले और ऊपर से मिश्री खाता रहे तो जव तक उसके मुख में अफीम रहेगी तव तक वह चाहे जितनी मिश्री खावे, मुख कड़वा ही रहेगा, यानी मुँह मीठा नहीं होगा। इसी तरह मनुष्य जव तक असत् का त्याग नहीं करेगा तव तक लाख प्रयास करने पर भी सच्चा सुख नहीं मिल सकता। इसपर कोई कहे कि वह असत् क्या है, तो विचार कर देखने से मालूम होता है कि अपने लक्ष्य से जो भिन्न है, वह सभी असत् है। परन्तु आरम्भ में तो पाप, भोग, दोष और कामना, जो हमारे ही वनाये हुए दोष हैं और भयंकर असत् हैं, इनका त्याग करने का हमारा ही दायित्व है। इनका पूर्ण त्याग कर देने पर मनुष्य के हृदय में एक दिव्य प्रकाश होता है। उस निज विवेक रूपी दिव्य प्रकाश में जो असत् है, उसका हमें भली प्रकार ज्ञान होगा। तव हम उस असत् का त्याग कर पायेंगे। गुरु और ग्रन्थों द्वारा सुन लेने-मात्र से न तो हमें

उसका पूरा ज्ञान ही होता है और न उसे, त्यागना चाहते हुए भी, उसका हम त्याग ही कर पाते हैं, बल्कि असत् के द्वारा ही सच्चे सुख की प्राप्ति का प्रयास करते रहते हैं, सो हो पाता नहीं। देखो, असत् के दो रूप होते हैं—एक तो संकल्प तथा कामनाओं की अपूर्ति से होने वाले दुख के रूप में होता है। इसको तो हम बुरा समझ कर इससे उपरत होना चाहते हैं, परन्तु दूसरा, जो संकल्प-पूर्ति से होने वाले सुख के रूप में होता है, उसमें हम फँस जाते हैं। और तो क्या, उसकी प्राप्ति में हम अपना महत्त्व समझने लग जाते हैं। उसका अभिमान करके उससे अपना महत्त्व समझकर उसमें फँस जाते हैं, परन्तु वह मीठा विष ही, खाने में तो रुचिकर होता है, परन्तु अन्त में तो प्राणों का लेवा ही सिद्ध होता है। इसमें मान, बड़ाई, प्रतिष्ठा तथा मनचाही वस्तु और सब प्रकार की सिद्धियाँ भी आ गईं। अतः साधक को इससे बहुत सजग रहना चाहिये। इनकी प्राप्ति में प्रसन्न होना तथा अपना महत्त्व समझना जड़ता में ही आबद्ध होना है, और प्रेम की चाह रखने वाले को तो मुक्ति से भी मुक्त होना है। इनकी चाह रखने वाले, तथा मिलने पर प्रसन्न होने वाले को तो प्रेम की चर्चा करने का भी अधिकार नहीं है और न वह सच्चे सुख का अधिकारी है। सो असत् का त्याग करना अनिवार्य है।

साधक को हर समय सजग रहना अत्यन्त आवश्यक है। यदि कोई कहे कि सजगता क्या है, तो विचार करने पर मालूम होता है कि अपनी दशा का, दायित्व का, और अपनी माँग का ज्ञान बनाये रखना ही सजग रहना है। फिर अपनी दशा पर तो विचार करके उसका सुधार करना, दायित्व को पूरा करना और माँग-पूर्ति की लालसा को बनाये रखना, यह सजगता है। फिर निर्भय रहना, शान्त रहना, निश्चिन्त रहना, प्रसन्न रहना, यह सभी सजगता है। कारण, चिन्तित रहने से, भयभीत, अशान्त और खिन्न रहने से शक्ति का ह्रास होता है, और निश्चिन्त, निर्भय रहने से शक्ति का संचार होता है। परन्तु सदोष व सकाम मनुष्य कभी निर्भय, निश्चिन्त नहीं रह सकता। इसलिए दोष और कामनाओं का त्याग करना परम आवश्यक है और यही सच्ची सजगता भी है। करने में सावधान रहने से और प्रसन्न रहने से भी शक्ति का संचार होता है, परन्तु सदोष और सकाम मनुष्य यह भी नहीं कर पाता। देखो, अपने लक्ष्य पर दृष्टि रखकर, पवित्र भाव से, फल न चाह कर, सही ढङ्ग से करना ही करने की सावधानी है। सो करने में

सावधान रहने से होने में प्रसन्न रहने की योग्यता आ जाती है। फिर होने में प्रसन्न रहने से होने वाले को प्रभु का मंगलमय विधान मानकर, प्रभु का प्यार मिलता है, परन्तु सदोष मनुष्य करने में सावधान नहीं रह सकता। वह तो गलत ही करेगा और सकाम मनुष्य होने में प्रसन्न कैसे रहेगा ? वह तो कामना पूरी होने में ही प्रसन्न रहेगा। इसलिए कल्याण-कामी साधक को निर्दोष-निष्काम होना अत्यावश्यक है, और इसी का नाम सजगता है। सो चाहे तो मनुष्य इन वातों को अपने जीवन में उतार कर सदाचारी, संयमी हो जावे, और चाहे पहिले सदाचारी और संयमी होकर उपरोक्त वातों को अपने जीवन में उतार ले। सूक्ष्मता की तरफ से चलो, चाहे स्थूलता की तरफ से, परन्तु कल्याण-कामी साधक को यथार्थ जीवन तो वनाना ही पड़ेगा। हम गलत भी करते रहें, और हमारा कल्याण भी हो जावे यह वात तो तीन काल में होने की नहीं। सो कल्याण-कामी मनुष्य को सही तो करना ही पड़ेगा और सही करना ही सजग रहना है। जैसे वाणी एक इन्द्रिय है, वोलना इसका कर्म है। सो सत्य वोलना, सही करना, यह धर्म है, और झूंठ वोलना, गलत करना, यह पाप है। सो, सही करने से सद्गति और गलत करने से दुर्गति होती है। यही वात सव सन्त और ग्रन्थ वतलाते हैं और यही सवका सार-सिद्धान्त है। यही वात सभी इन्द्रियों के विषय में समझो। देखो, सही करना तो मनुष्य का स्वाभाविक गुण है। यह किसी से सीखना नहीं पड़ता और गलत करना कृत्रिम दोष है। यह मनुष्य में देख-सुन कर आता है, परन्तु करते-करते गलत करना इतना अभ्यस्त हो जाता है कि इसका त्याग करना वड़ा कठिन हो जाता है। फिर भी यदि साधक इसके भयंकर परिणाम पर दृष्टि रखकर दृढ़तापूर्वक उसे छोड़ना चाहे तो छोड़ भी अवश्य सकता है। पूर्णरूपेण गलत करना छोड़ते ही सही अपने आप होने लग जाता है और मनुष्य का कल्याण हो जाता है। सो, सही करो, यही सजगता है, यही सव का सार है।

१६-७-५५

देहातीत दिव्य ज्योति प्रीति स्वरूपा,

सर्वदा शान्त तथा प्रसन्न रहो। ता० १५ का लिखा हुआ सरलता तथा स्नेह से हरा-भरा पत्र मिला। यह जानकर कि विश्व-हितैषी सदाचार का प्रतीक तुम्हारा शरीर अभी अस्वस्थ ही चल रहा है, खेद हुआ पर कोई बात नहीं। रोग भी प्राकृतिक तप है, और कुछ नहीं। रोग का वास्तविक मूल तो किसी न किसी प्रकार का राग ही है, क्योंकि राग-रहित करने के लिये ही रोग के स्वरूप में अपने प्यारे प्रीतम का मिलन होता है। हम प्रमाद वश उन्हें पहचान नहीं पाते और रोग से भयभीत होकर उससे छुटकारा पाने के लिये आतुर तथा व्याकुल हो जाते हैं जो वास्तव में देहाभिमान का परिचय है और कुछ नहीं।

मूक सत्संग प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में सहजभाव से होना चाहिए। उनकी सर्वसमर्थ अहैतुकी कृपा सर्वत्र, सर्वदा संग-संग है। उसका आश्रय ही आस्तिक का महान बल है। अचाहरूपी वृक्ष उत्पन्न होना है और भूमिमें ही मूकसंत्सङ्ग रूपी सम्बन्ध-विच्छेद रूपी जल से ही उसे सींचा जाता है। वर्तमान परिस्थिति का सदुपयोग ही उस वृक्ष की रक्षा करने वाली बाड़ है। उनकी मधुर-स्मृति उस वृक्ष का बौर है और अमरत्व ही उस वृक्ष का फल है जिसमें प्रेम रूपी रस भरपूर है। प्रेमरस से भरपूर अमर फल पाकर ही प्राणी कृतकृत्य होता है। उसी के लिये वर्तमान जीवन मिला है। प्रत्येक दशा में सत्य का सङ्ग और असत्य का त्याग करना अनिवार्य है। जाने हुए असत्य के त्याग में ही सत्य का संग निहित है।

—ॐ आनन्द

तुम्हारा……………

बीकानेर
१-४-५४

मेरे निज-स्वरूप परम प्रिय, बहुत-बहुत प्यार !

पत्र के स्वरूप में दर्शन मिला। सत्-चित्-आनन्द एक ही तत्त्व की विभूतियाँ इन तीनों में विभाजन नहीं है, अर्थात् जो सत् है वही चित् है और आनन्द भी वही है। चित् ही ज्ञान-प्रकाश और ज्योति है। इन्द्रिय-दृष्टि की भाँति कोई अलौकिक उजाला नहीं है। ज्योति का अर्थ स्वयं प्रकाश, जो अपने को अपने आप प्रकाशित करे, और जिससे समस्त विश्व प्रकाशित है, वही ब्रह्म-ज्योति है। ब्रह्म का साक्षात्कार ब्रह्म से अभिन्न होने ही में है। ब्रह्म किसी कारण का विषय नहीं है। ब्रह्म और जगत् का भेद करने पर तो ब्रह्म जगत् का प्रकाशक है और जगत् का अभाव स्वीकार करने पर केवल ब्रह्म से भिन्न कुछ है ही नहीं। सभी पर-प्रकाश्य का प्रकाशक जो है, वही ज्योति है। जिस प्रकार ज्ञान और बोध पर्यायवाची हैं, उसी प्रकार ज्योति और ज्ञान भी पर्यायवाची हैं। अहम् और मम के नाश होने पर इन्द्रिय और बुद्धि दृष्टि अपने अधिष्ठान में विलीन हो जाती है, तो फिर ब्रह्म-ज्योति बुद्धि का विषय कैसे हो सकती है। ब्रह्म तत्त्व अपनी महिमा में आप स्थित है और अपना प्रकाशक आप ही है। इसलिए उसे ज्योति कहकर भी सम्बोधित किया है। पुनः तुम्हें बहुत-बहुत प्यार।

ॐ आनन्द।

अकिंचन,
....

● "प्रेमास्पद की आत्मीयता के अतिरिक्त यदि और कोई अपनी माँग है तो वह आत्मीयता की सजीवता में बाधक है। प्रियता की अभिव्यक्ति में आत्मीयता से भिन्न कोई अन्य साधन नहीं है। इस रहस्य को जान लेने पर साधक समस्त प्रलोभनों का अन्त कर अभय हो जाता है, जिसके होते ही प्रेम की अभिव्यक्ति तथा आसक्ति का अभाव स्वतः होता है। इस दृष्टि से आत्मीयता में ही समस्त विकास निहित है।"